

जिनभाषित

वीर निर्वाण सं. 2532

श्री शान्तिनाथ दि. जैन मन्दिर

ऊन (खरगौन) म.प्र.
(12 वीं शताब्दी ई.)



कार्तिक, वि.सं. 2062

नवम्बर, 2005

संवेग

• आचार्य श्री विद्यासागर जी

संवेग का मतलब है संसार से भयभीत होना, डरना। आत्मा के अनन्त गुणों में यह संवेग भी एक गुण है। पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है, सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। संवेग, सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों में से एक है। जैसे ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का श्रृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के न होने पर मंदिर की कोई शोभा नहीं है, वैसे ही बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।

संवेग एक उदासीन दशा है जिसमें रोना भी नहीं है, हँसना भी नहीं है, पलायन भी नहीं है, बैठना भी नहीं है, दूर भी नहीं हटना है और आलिंगन भी नहीं करना है। यह जो आत्मा की अनन्य स्थिति है वह सद्गृहस्थ से लेकर मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ मुनि महाराज तक में प्रादुर्भूत होती है। मुनि पग-पग पर डरता है और सावधान रहकर जीवन जीता है। वह अपने आहार-विहार में, उठने-बैठने और लेटने की सभी क्रियाओं में सदैव जाग्रत रहता है, सजग रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह साधु न होकर स्वादु बन जायेगा। साधु का रास्ता तो मनन और चिंतन का रास्ता है। उसकी यात्रा अपरिचित वस्तु (आत्मा) से परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट प्रयास है। ऐसे संवेग-समन्वित साधु के दर्शन दुर्लभ हैं। आप कहते हैं कि हम 'वीर' की सन्तान हैं। बात सही है। आप 'वीर' की सन्तान तो अवश्य हैं, किन्तु उनके अनुयायी नहीं। सही अर्थों में आप 'वीर' की सन्तान तभी कहे जायेंगे, जब उनके बताये मार्ग का अनुसरण करेंगे।

संवेग का प्रारम्भ कहाँ? जब दृष्टि नासाग्र हो, केवल अपने लक्ष्य की ओर हो, और अविрам गति से मार्ग पर चले। आपने सर्कस देखा होगा, सर्कस में तार पर चलनेवाला न ताली बजाने वालों की ओर देखता है और न ही लाठी लेकर खड़े आदमी को देखता है। उसका उद्देश्य इधर-उधर देखना नहीं है, उसका उद्देश्य तो एकमात्र संतुलन बनाये रखना और अपने लक्ष्य पर पहुँचना होता है। यही बात संवेग की है।

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं होता। संसार से 'भीति' सम्यग्दर्शन का अनन्य अंग है। वीतराग सम्यग्दर्शन में यह 'संवेग' अधिक घनीभूत होता है। संवेग अनुभव और श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है। इस संवेग की प्राप्ति अति दुर्लभ

है। वीतरागता से पूर्व यह प्रस्फुटित होता है और फिर वीतरागता उसका कार्य बन जाती है। संवेग के प्रादुर्भूत होने पर सभी बाहरी आकांक्षाएँ छूट जाती हैं। जहाँ संवेग होता है, वहाँ विषयों की ओर रुचि नहीं रह जाती, उदासीनता आ जाती है।

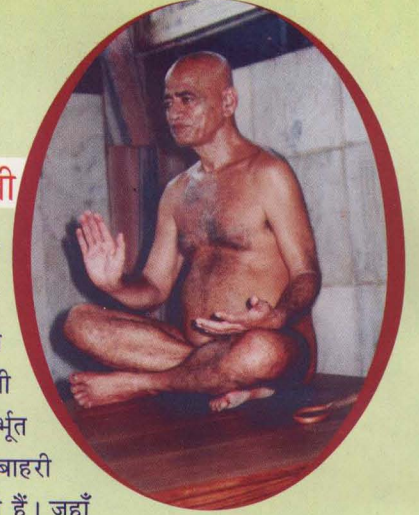
भरत चक्रवर्ती का वर्णन सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। उनके भोगों का वर्णन तो किया जाता है, किन्तु उनकी उदासीनता की बात कोई नहीं करता। एक व्यक्ति अपने बारह बच्चों के बीच रहकर बड़ा दुखी होता है। उसकी पत्नी उससे कहती है, 'भरत जी इतने बड़े परिवार के बीच कैसे रहते होंगे, जहाँ छयानवै हजार रानियाँ, अनेकों बच्चे और अपार सम्पदा थी? उनके परिणामों में तो कभी क्लेश हुआ हो ऐसा सुना ही नहीं गया।' वह व्यक्ति भरत जी की परीक्षा लेने पहुँच जाता है, भरतजी सारी बात सुनकर उसे अपने रनिवास में भेज देते हैं। उस व्यक्ति के हाथ पर तेल से भरा हुआ कटोरा रख दिया जाता है और कह दिया जाता है कि 'सब कुछ देख आओ, लेकिन इस कटोरे में से एक बूँद भी नीचे नहीं गिरनी चाहिये, अन्यथा मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा।' वह व्यक्ति सब कुछ देख आया पर उसका देखना न देखने के बराबर ही रहा, सारे समय बूँद न गिर जाने का भय बना रहा। तब भरतजी ने उसे समझाया, 'मित्र जागृति लाओ, सोचो, समझो। ये नव निधियाँ, चौदह रत्न, ये छयानवै हजार रानियाँ, ये सब मेरी नहीं हैं। मेरी निधि तो मेरे अंतरंग में छिपी हुई है, ऐसा विचार करके ही मैं इन सबके बीच शांतभाव से रहता हूँ।'

रत्नत्रय ही हमारी अमूल्य निधि है। इसे ही बचाना है। इसको लूटने के लिये कर्मचोर सर्वत्र घूम रहे हैं। जाग जाओ, सो जाओ, तो तुम्हारी निधि ही लूट जायेगी।

'कर्म चोर चहुँ ओर सरबस लूटें सुध नहीं'

संवेगधारी व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है, चाहे वह कहीं भी रहे। किन्तु संवेग से रहित व्यक्ति स्वर्गिक सुखों के बीच भी दुःख का अनुभव करता है और दुखी ही रहता है।

'समग्र' से साभार



नवम्बर 2005

मासिक जिनभाषित

वर्ष 4, अङ्क 10

सम्पादक

प्रो. रतनचन्द्र जैन



कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-2424666



सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया,
(मदनगंज किशनगढ़)
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर



शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कंवरलाल पाटनी
(आर.के. मार्बल)
किशनगढ़ (राज.)

श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर



प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-2851428, 2852278



सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आंजीवन	500 रु.
वार्षिक	100 रु.
एक प्रति	10 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- संपादकीय : साकांक्ष पूजा 2
- प्रवचन
संवेग : आचार्य श्री विद्यासागर जी आ.पृ. 2
- ◆ गुरु के बिना ज्ञान संभव नहीं है : मुनिश्री सुधासागर जी 5
- ◆ क्षमा धर्म : मुनिश्री समतासागर जी 6
- लेख
◆ जयजिनेन्द्र, जुहारु और इच्छाकार 7
: स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार
- ◆ ऐलक-चर्या : स्व. पं. मिलापचन्द्र कटारिया 14
- ◆ स्वाध्याय : दुःखमुक्ति का श्रेष्ठ उपाय : ब्र. अन्नू जैन 17
- ◆ मानवीय क्रूरता के शिकार जीव-जन्तु 19
: डॉ. श्रीमती ज्योति जैन
- ◆ शासनदेवता-उपासना के बारे में मत : एक प्रमाण 22
: प्रा. सौ. लीलावती जैन
- ◆ हाथ जोड़कर अभिवादन करें 23
: डॉ. आराधना जैन 'स्वतंत्र'
- ◆ कुछ प्रेरक प्रसंग : डॉ. श्रीमती वन्दना जैन 24
- ◆ आपका स्वास्थ्य आपके हाथ : ब्र. अरुण भैया 25
- जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा 26
- ग्रंथसमीक्षा : सुरेश जैन 'सरल' 29
- तीर्थकर परिचय
◆ भगवान् अभिनन्दननाथ जी 21
◆ भगवान् सुमतिनाथ जी 28
- कविता
◆ विनती : सुमेरचंद जैन 6
◆ साफ साफ कह दो : सरोज कुमार आ.पृ. 3
- समाचार 5, 18 एवं 30-32

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

जिनभाषित से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिए न्याय क्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

साकांक्ष पूजा

एक प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य के सान्निध्य में, उन्हीं के द्वारा रचित 'नवग्रह शांति विधान' के आयोजन की पत्रिका देखने को मिली। पत्रिका में विधान के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आप विधान में भाग लेकर, श्री जिनेन्द्र आराधना कर, ग्रहपीड़ा से मुक्ति प्राप्त करें एवं पुण्यार्जन करें। नीचे विधान के उद्देश्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए मोटे अक्षरों में निम्न प्रकार लिखा है -

नवग्रह शांति विधि : ग्रहों की अशुभता से होने वाले अरिष्ट निवारण अनुष्ठान।

सूर्यग्रह : हृदयरोग, नेत्ररोग, उदरविकार, धनक्षति, ऋण, झूठे अभियोग, प्रतिष्ठाहानि आदि।

चन्द्रग्रह : मानसिक तनाव, चिन्ता, फेंफड़े का रोग, माता की बीमारी, दुर्बलता, धन की कमी, रक्त का प्रकोप इत्यादि।

मंगलग्रह : पराक्रम का अभाव, शीर्ष पुट्टे, आंतरिक मांसपेशियाँ, तीव्रज्वर, रक्तविकार, फोड़े-फुंसी, हॉट फटना इत्यादि।

बुधग्रह : त्वचारोग, दन्तविकार, हाथ-पैर की नसों में विकार, वाणीदोष, व्यापार में परेशानी, बुद्धि में कमी।

गुरुग्रह : पुत्र की हानि, गले में खराबी, विवाह में देरी, ज्ञान की कमी, स्मरण-शक्ति-क्षीण इत्यादि।

शुक्रग्रह : खुशी में गम आते हैं, गुप्तेन्द्रिय पीड़ा, मस्तिष्क में नजला-जुकाम आदि।

शनिग्रह : अग्निकाण्ड, दुर्घटना, अयोग्यसंतान, शरीर के निचले भाग पैर तलुवे, स्नायुपीड़ा, धीमी गति से कार्य होना या रुकावटें आना आदि।

राहुग्रह : सिर पर चोट, राजकोट का शिकार, गैस, विचारों में अस्थिरता, लम्बी बीमारी, हृदयरोग इत्यादि।

केतुग्रह : विश्वासघात, मूत्रविकार, पुत्र पर संकट एवं पुत्र द्वारा दुर्व्यवहार, अचानक परेशानी, जिगर, हाथ-पैर में सूजन, बवासीर इत्यादि।

विधानपूजा की पुस्तक हाथ में नहीं होने के कारण यह तो जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी कि उक्त प्रत्येक ग्रह की अनिष्टता के निवारण के लिए किसकी पूजा का विधान किया गया है। संभावना के आधार पर कदाचित् यह माना जा सकता है कि भिन्न-भिन्न ग्रहों के अनिष्ट के निवारण के लिए भिन्न-भिन्न तीर्थंकर भगवन्तों की पूजा का विधान किया गया होगा।

इस प्रसंग में प्रथमतः विचारणीय बात तो यह है कि जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का उद्देश्य केवल आध्यात्मिक ही होना चाहिए। पूजक पूजा के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् के गुणों के स्मरण पूर्वक अपने परिणामों की विशुद्धि प्राप्त करता है और आत्मगुणों अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का विकास चाहता है। सम्यग्दृष्टि पूजक तत्त्वज्ञान के बल पर दो कारणों से जिनेन्द्रदेव अथवा पंचपरमेष्ठी की पूजा के प्रतिफल में किसी भी प्रकार के लौकिक वैभव को प्राप्त करने अथवा लौकिक संकट या कष्ट दूर करने की इच्छा नहीं रखता है। पहला कारण तो यह है कि वह सच्चे देव का स्वरूप जानता है और उस पर दृढ़ श्रद्धा रखता है। वह यह जानता है कि देव वीतरागी हैं तथा अपरिग्रही हैं, अतः वे पूजक पर उसकी पूजाभक्ति से प्रसन्न नहीं होते और फलस्वरूप उसको धन वैभव पुत्र आदि कोई वस्तु दे नहीं सकते और न उसके किसी संकट अथवा कष्ट का निवारण ही कर सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि पूजक को यह दृढ़

श्रद्धा होती है कि अपना भला या बुरा स्वयं के कर्मोदय के अनुसार होता है। किसी भगवान् या देवता की कृपा अथवा रुष्टता से किसी का अच्छा या बुरा नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त मुख्य बात यह है कि तत्त्वज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जिनेन्द्र पूजा आदि पुण्य कार्यों को निदान (लौकिक फलाकांक्षा)रहित होकर करता है। आचार्य कुंदकुंद के समयसार कर्तृकर्म अधिकार की गाथा ७९ की टीका में आचार्य जयसेन स्वामी ने बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव के बारे में लिखा है- “अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिजीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति। कदाचित्पुनश्चिदानन्दैक-स्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति।” अर्थात् जब तक अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि की अवस्था में रहता है तब तक प्रधानता से विषयकषाय-अशुभपरिणाम करता रहता है। किंतु कभी-कभी चिदानन्द स्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त किए बिना उससे शून्य केवल भोगाकांक्षा के निदानबंधस्वरूप शुभपरिणाम भी करता है। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीवों के परिणाम कभी-कभी भगवान् जिनेन्द्र की पूजा-आराधना एवं वीतरागी गुरुओं की उपासना करने की ओर लगते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य भोगाकांक्षानिदानबंध-रूप ही होता है। तथापि सम्यग्दर्शन के होने पर उन जिनपूजा और गुरु-उपासना का महान् उदात्त उद्देश्य वीतरागता की प्राप्ति मात्र होता है। आगे उसी गाथा की टीका में जयसेन स्वामी लिखते हैं -

“कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवंचनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थं वा बहिर्बुद्ध्या ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षानिदानबंधरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्मारोधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्याय-साधूनां गुणस्मरणारूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः। यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीयदेशान्तर-स्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्त्ता पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति। तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्मारोधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्मारोधनारहितं सन् करोति।”

अर्थ - पुनः कदाचित् निर्विकल्प समाधि के परिणाम नहीं होने पर विषयकषायों को रोकने के लिए अथवा शुद्धात्मभावना की सिद्धि के लिए वह बाह्यदृष्टि होते हुये भी ख्याति-पूजा-लाभ-भोगाकांक्षा-निदानबंध-रहित होकर शुद्धात्मा है लक्षण जिनका ऐसे अर्हत्-सिद्ध शुद्धात्मा की आराधना करनेवाले और उसी का प्रतिपादन करने वाले एवं उसी शुद्धात्मा के साधक ऐसे आचार्य-उपाध्याय-साधुओं के गुणस्मरणारूप शुभोपयोगपरिणाम को भी करता है। इस विषय का दृष्टान्त दे रहे हैं। जैसे कोई पुरुष जिसकी स्त्री देशांतर में है, उस स्त्री का समाचार जानने के लिए उसके पास से आये हुये लोगों का सम्मान करता है, उसकी बात पूछता है, उसको प्रेम दिखलाकर दानादिक भी देता है। यह सारा बर्ताव उसका केवल स्त्री का परिचय प्राप्त करने के निमित्त होता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिज्ञानी भी जिस काल में स्वयं शुद्धात्मा की आराधना से रहित होता है, उस समय शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए शुद्धात्मारोधक एवं प्रतिपादक आचार्य-उपाध्याय-साधुओं की गुणस्मरणरूप पूजा निदानादिरहित होता हुआ करता है।

आचार्य जयसेन स्वामी ने सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की शुभोपयोगरूप क्रियाओं में होनेवाले परिणामों के अंतर को स्पष्ट किया है। सम्यग्दृष्टि निर्विकल्पसमाधि के परिणाम नहीं हो सकने पर ख्याति-पूजा-लाभ-भोगाकांक्षानिदानबंधरहित होकर विषयकषायों को रोकने के लिए पंचपरमेष्ठी के गुणस्मरण-आराधनारूप शुभोपयोगपरिणाम करता है। जबकि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा भी कभी जिनेन्द्र की एवं गुरुओं की पूजा आदि के परिणाम करता भी है, तो उनका उद्देश्य भोगाकांक्षा-निदान-बंधरूप ही रहता है।

समयसार ग्रंथ की टीका द्वारा स्थापित उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार हमारे दिगम्बर आचार्य एवं मुनि महाराजों को भगवान् जिनेन्द्र की पूजा किसी भी प्रकार के लौकिक लाभ तथा निदान के उद्देश्य को लेकर नहीं करने का श्रावकों को उपदेश देना चाहिए। किंतु अत्यंत खेद है कि आचार्य स्वयं पूजकों के मन में विभिन्न लौकिक सिद्धि प्राप्त करने एवं संकट दूर होने का लोभ उत्पन्न कर, उन्हें उक्त उद्देश्य से पूजा करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। यह स्वाभाविक है कि गृहस्थ

अवस्था में प्राप्त अनेक दुखों-चिंताओं-पीड़ाओं से ग्रसित भोले-भाले गृहस्थजन इस प्रकार संकट दूर होने और इष्ट फल की प्राप्ति का लोभ दिए जाने पर सहज ही वीतरागदेव के स्वरूप को भूलकर इस प्रकार की भोगाकांक्षा और निदान के उद्देश्य से किये जानेवाले विधान के कार्यक्रमों में रुचिपूर्वक भाग लेने लगते हैं। एक दिगम्बर जैन आचार्य, जिनका यह विशेष उत्तरदायित्व है कि वे श्रावकजनों को यह सिखाएँ कि वे वीतरागदेव की भोगाकांक्षा एवं निदानरहित एवं स्वात्मधर्म के विकास के उद्देश्य से पूजा करें, स्वयं ही यदि श्रावक के मन में वीतराग भगवान् की भोगाकांक्षा एवं निदान के उद्देश्य से पूजा करने की भूख जाग्रत करते हैं, स्वयं ऐसे साहित्य का सर्जन करते हैं और स्वयं अपनी देख-रेख में उनका आयोजन कराते हैं, तो यह कितने बड़े खेद की बात है! श्रद्धालु श्रावकजन तो आचार्यों और साधुजनों को धार्मिक क्षेत्र में अपना मार्गदर्शक मानते हुए उनके आदेशों-उपदेशों का आँख मींचकर पालन करते हैं।

यह देखकर हमें भारी पीड़ा होती है कि हमने महान् वीतराग भगवन्तों की गरिमा घटाकर उन्हें रागी-द्वेषी देवी देवताओं की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है। यह उनका भारी अवर्णवाद है। हम उन वीतरागदेव की आराधना के प्रतिफल में धनक्षति, धन की कमी, व्यापार में परेशानी, पुत्र की हानि, विश्वासघात, पुत्र पर संकट, पुत्र द्वारा दुर्व्यवहार आदि संकटों से मुक्ति चाहते हैं और सभी प्रकार के शारीरिक रोग उनसे दूर कराना चाहते हैं, यह हमारी मिथ्या श्रद्धा है। हमारी देवोपासना का उदात्त उद्देश्य 'वन्दे तद्गुणलब्धये' अब हमने भुला दिया है। हमारे कतिपय आचार्यों एवं मुनिजनों का अब उनके षडावश्यकों में यह सातवाँ आवश्यक और जुड़ गया है कि वे अधिकांश समय अपने भक्तों को शारीरिक बीमारियों एवं लौकिक संकटों से मुक्त कराने के लिए मंत्र, तंत्र, यंत्र, औषधियों आदि का वितरण करते रहते हैं। इसी लोभ से आकृष्ट होकर हमारे मुनि महाराजों के पास उनके अंध भक्तों की भीड़ जमा रहती है। इस प्रवृत्ति के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि यदि मुनि महाराज दुखी श्रावक-श्राविकाओं के कष्ट दूर करने एवं उन्हें लौकिक सम्पत्ति प्राप्त करने के उपाय बताते हैं, तो यह तो वे करुणा तथा वात्सल्य भाव से करते हैं। अन्यथा तो दुखी श्रावकजन अन्य विधर्मियों की शरण में चले जायेंगे। अस्तु, मुनि महाराज का यह मंत्र-तंत्र-औषधि देने का कार्य धर्म प्रभावना का कार्य है, इसमें कोई धर्म की हानि नहीं है, इस विषय में विचार करने पर उपरोक्त तर्क का खोखलापन दृष्टि में आ जाता है। वस्तुतः वीतरागी मुनि महाराज को श्रावक की इस श्रद्धा को कि मुझे लौकिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाये, तो मैं सुखी हो जाऊँ या यह कि लौकिक संकटों के कारण मेरा अहित हो रहा है, बदलना चाहिए। मुनि महाराजों को तो, उसको, कर्म सिद्धांत पर विश्वास कर, पुण्य-पाप के उदय में समतापरिणाम रखने की शिक्षा देनी चाहिए। सम्यक् श्रद्धा प्राप्त होने पर वह सुधी श्रावक पुण्य-पाप के फल में हर्ष विषाद नहीं करते हुए समतापरिणाम रखता है और सभी परिस्थितियों में निराकुल रहने की वृत्ति अपना लेता है। यही तो धर्म है। वैसे मंत्र-तंत्रादि के द्वारा कर्मोदय के विरुद्ध किसी को न तो संपत्ति प्राप्त कराई जा सकती है और न संकट ही दूर किए जा सकते हैं। यदि कदाचित् ऐसा किया भी जा सकता हो, तो वीतरागी साधु ऐसे राग-द्वेष-जन्य आरंभपरक कार्य कभी नहीं करेंगे। उन्हें यदि किसी दुखी भक्त श्रावक के प्रति करुणा आती भी हो, तो वे उसकी श्रद्धा को समीचीन बनाकर धर्म में स्थित होने के दूरगामी परिणाम देनेवाले समीचीन धर्म की शरण में आने का उपदेश देते हैं। वीतरागी साधु तो श्रावक के जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों की अभिवृद्धि करेंगे, जो कि निराकुलता प्राप्त करने का सच्चा उपाय है। मंत्र-तंत्र-औषधि आदि के वितरण के चक्कर में पड़कर यदि मुनि महाराज स्वयं को राग-द्वेष जनक आरंभ में उलझा लेते हैं तो यह उनकी स्वयं की ज्ञान-ध्यान की आराधना में बाधक होता है और उनकी मुनि चर्या को दूषित करता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक तो निःकांक्षित होता है। वह लौकिक सिद्धियों के लिए अथवा संकटों से मुक्त होने के लिए मंत्रतंत्रादि का सहारा कैसे ले सकता है? अब तो मुनिभक्ति का रूप ही बदल गया है। अब तो 'गुणनुराग भक्ति' का स्थान 'लौकिक स्वार्थ साधना भक्ति' ने ले लिया है। परिणामस्वरूप उन मुनि महाराजों एवं उनके भक्तों दोनों में ही अध्यात्म एवं वैराग्य के कहीं दर्शन नहीं होते हैं। अध्यात्म और वैराग्य के अभाव में उन मुनि महाराजों की जीवनचर्या एवं आचरण में शिथिलाचार ने प्रवेश पा लिया है। यह कलिकाल का प्रभाव है या जैन समाज का दुर्भाग्य?

मूलचंद लुहाड़िया

गुरु के बिना ज्ञान संभव नहीं है

मुनिश्री सुधासागर जी महाराज

आध्यात्मिक ज्ञान केवल शास्त्र पढ़ने से संभव नहीं है, बल्कि वास्तविक ज्ञान गुरु के सान्निध्य से ही हासिल किया जा सकता है। जिस तरह डॉक्टर और वकील को डिग्री हासिल करने के बाद भी अनुभवी से साल दो साल की प्रैक्टिस सीखनी पड़ती है, ठीक उसी तरह ज्ञानी को गुरु की शरण लेनी पड़ेगी। तभी वह सही मार्ग समझ सकेगा। फिर वह न खुद भटकेगा और न किसी को भटकने की गलत दिशा दे सकेगा। जो खुद सही दिशा का ज्ञाता है, वही तो दूसरे को सही रास्ता बता पाएगा। अनुभव और बिना कष्ट सहे किसी को न ज्ञान मिला है, न भक्ति का आनंद और न ही मोक्ष मिला है।

अपने सद्व्यवहार से जीवन को बदलो, तभी हम भक्ति और मोक्ष के सही मार्ग पर चल पाएँगे। व्यवहार में चूक गए तो फिर दुर्गति तय है। जिस तरह भोजन पकाने में सावधानी रखनी पड़ती है, उसी तरह अपने व्यवहार को सुधारने में सावधानी बरतनी होगी।

आत्मा का आनंद तो अनन्त है। वह सिखाया नहीं जाता, बल्कि उसकी प्राप्ति के मार्ग बताए जाते हैं। बिना कष्ट उठाए आनंद की अनुभूति संभव ही नहीं है। धर्म, त्याग और संयम की नींव पर टिका है और इसके लिए पहले अपने मन व व्यवहार को बदलना ही पड़ेगा। जब गुरु का सान्निध्य प्राप्त होगा, तब मंजिल के सही मार्ग पर चलने की ट्रेनिंग मिल सकती है, किन्तु यह ध्यान रहे कि साधन को कभी आनंद मत मानना। पहले कर्मयोगी बनें, जिससे हम मनुष्य जीवन की दशा सुधार सकें।

आज के भौतिक युग में मिथ्यात्व पनप रहा है और यही नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों में गिरावट का कारण है। आज इंसान को 'पर' को भोगने में आनंद अनुभव होता है, परन्तु इससे कर्मरूपी हथकड़ी मिलती है। जब तक अपनी परिग्रहदशा है, तब तक हम ऊँचे उठ नहीं सकेंगे। डाकू-साधु में फर्क इतना ही है कि डाकू 'पर' को भोगता है और साधु 'पर' को छोड़ता है। अंतर की यात्रा तभी संभव है जबकि 'पर' से छुटकारा पाएँगे।

मिथ्यादृष्टि मत बनो, बल्कि सम्यग्दृष्टि बनने का प्रयास करो। गुरु के जब नजदीक जाओगे तब मंजिल की राह जरूर मिलेगी। किसी लक्ष्य को बनाना तो सरल है, परन्तु उस पर चलना बहुत कठिन है। मोक्ष की भावना सब रखते हैं, परन्तु उस पर चलने के भाव तनिक भी नहीं हैं। जब देव, शास्त्र, गुरु से निकटता का सम्बन्ध ही दूर हो रहा है, फिर मोक्ष कैसे मिलेगा? कलेक्टर और राष्ट्रपति बनने की चाह बहुत लोग रखते हैं, परन्तु पढ़ना कोई नहीं चाहता। फिर क्या बिना पढ़े, बिना कष्ट के किसी को डिग्री या पद मिले हैं? यही धर्म का सिद्धान्त है, जब गुरु के निकट जाकर उनके ज्ञान, उनकी तपस्या, उनके सिद्धान्त अपने जीवन में व्यवहार बनकर उतरने लगेंगे, तभी हम जीवन को धर्म के अनुकूल परिवर्तित कर पाएँगे। कुछ पाने के लिए कुछ खोना ही पड़ेगा। बिना कष्ट के मंजिल न मिली है, न मिलेगी। त्याग और संयम का पसीना बहाओ, तो एक दिन निश्चित आनंद का अनुभव कर पाओगे।

'अमृतवाणी' से साभार

छत्तीसगढ़ में अब खुलेआम नहीं बिकेंगे अंडे

हाईकोर्ट ने एक महत्वपूर्ण आदेश में अंडे को मांसाहारी मानते हुए राज्यभर में उसकी सार्वजनिक बिक्री पर रोक लगा दी है। उसने अंडे की बिक्री के लिए दो सप्ताह में स्थान तय करने के निर्देश राज्य शासन को दिए हैं।

तत्कालीन चीफ जस्टिस ए.के. पटनायक व जस्टिस दिलीप देशमुख की बेंच ने रायपुर निवासी मनोहर जेठानी की जनहित याचिका पर सुनवाई करते हुए पिछले दिनों यह फैसला सुनाया। आदेश की कापी आज जारी की गई। रायपुर निवासी मनोहर ने अपनी याचिका में कहा था कि राजधानी के अनेक वार्डों व प्रमुख सड़कों के किनारे खुलेआम मटन, चिकन व मछली के साथ अंडों की भी बिक्री की जाती है। उन्होंने तर्क दिया कि अंडे को शाकाहारी मानने का कोई विधिक औचित्य नहीं है। अंडा मुर्गी के पेट से ही निकलता है और अंडे से ही चूजे बनते हैं।

प्रेषक : श्रीमती संतोष सिंघई, ई.७/४, भोपाल

हाईकोर्ट ने
मांसाहारी
माना

क्षमा धर्म

मुनिश्री समतासागर जी

क्रोध एक कषाय है, जो व्यक्ति को अपनी वास्तविक स्थिति से विचलित कर देती है। इस कषाय के आवेग में व्यक्ति विचारशून्य हो जाता है और हिताहित का विवेक खोकर कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। क्रोध को हम बारूद के समान विस्फोटक और रासायनिक गैस की तरह अत्यन्त ज्वलनशील पदार्थ मान सकते हैं। लकड़ी में लगने वाली आग जैसे दूसरों को जलाती है पर स्वयं लकड़ी को भी जलाती है, इसी तरह क्रोधी व्यक्ति दूसरों का अहित करता ही है, खुद अपना भी अहित कर लेता है। यदि किसी पर अंगारा फेंका जाये, तो दूसरे के जलने के साथ फेंकनेवाले का हाथ भी जलता है। इस तरह क्रोध का दुष्परिणाम परिवार और आसपास के लोग तो भोगते ही हैं, क्रोध करनेवाला व्यक्ति स्वयं भी भोगता है। असल में अहं पर चोट लगते ही क्रोध भड़क जाता है। ऐसी स्थिति में वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। यदि उस समय वह कुछ न कर पाये, तो बदला लेने की फिराक में रहता है और यदि बदला न ले पाये तो बदले का भाव बैर बनकर भव-भवान्तर में भी नहीं छूट पाता।

क्या कभी हमने विचार किया है कि क्रोध आता क्यों है? सभी जानते हैं कि क्रोध अच्छी चीज नहीं है। इससे बचने में ही भलाई है, तब फिर जानते हुए भी प्राणी क्रोध क्यों करता है? इस तरह का विचार करने पर जो कारण ज्ञात हुए वे इस प्रकार हैं -

१. इच्छापूर्ति में बाधा पड़ना।
 २. मनचाहा न होना।
 ३. मानसिक अस्वस्थता।
 ४. शारीरिक अस्वस्थता।
 ५. तामसिक भोजन और मौसम आदि का प्रभाव।
- ये ऐसे कारण हैं कि जिनके उपस्थित होने से व्यक्ति को क्रोध आ ही जाता है।

इस क्रोध को जीतने के कुछ उपाय भी हैं। जैसे कि हम स्थिति की सही समीक्षा करें कि हमारी या दूसरों की इसमें कितनी गलती है। अपने दायित्व का बोध हो, थोड़ी देर के लिए स्थान परिवर्तन कर लेना, तथा चुप रह जाना आदि क्रोध के प्रसंगों को टालने के उपाय हैं। इस तरह यदि हम करते हैं तो सहज ही क्रोध को जीता जा सकता है। क्रोध को जीतना और क्षमा, शांति, समता का व्यवहार ही क्षमा धर्म है। यह धर्म कायरों का नहीं बल्कि वीरों का भूषण है। प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर भी अपनी सहनशीलता, सहिष्णुता या समता से विचलित नहीं होना ही क्षमा धर्म है। परिस्थितियाँ इंसान को मजबूर करती हैं। प्रतिकूलता में उद्वेग/आवेग की स्थिति बनती है, पर इन सभी क्रोधोत्पत्ति के कारणों में अपने विचार और व्यवहार को संभालना समर्थ और साधक पुरुष के लिए ही संभव है।

चातुर्मास छिन्दवाड़ा, सन् २००५

विनती

सुमेरचन्द्र जैन

चेतन को क्षणभर याद रखा,
फिर तन सेवा में लीन रहा।
इन्द्रिय सुख को ही सुख माना,
बस उसमें ही तल्लीन रहा।
ज्यों-ज्यों तृष्णा को शान्त किया,
त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ती जाती।
यह अविरल धारा तृष्णा की,
न शान्त हुई न तृप्त हुई।
हो वशीभूत इस तृष्णा के,
नाना दुःख झेले जीवन में।

आकुल व्याकुल हो घिरा रहा,
इस जग के मायाजालों में।
थकहार सभी जगजालों से,
प्रभु शरण तुम्हारी आया हूँ।
हो जाय शान्त तृष्णा ज्वाला,
बस यही कामना लाया हूँ।
हे शान्त सुधा छबि के धारक,
तुम सन्मति वीर कहाते हो।
मेरा मिथ्यापन दूर करो,
तुम करुणा के भंडारी हो।

हनुमान कॉलोनी, गुना (म.प्र.)

जयजिनेन्द्र, जुहारु और इच्छाकार

स्व. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार

दूसरे लोगों में जिस प्रकार परस्पर जयगोपाल, जयश्रीकृष्ण, जयसीताराम और जयरामजी इत्यादि वचन-व्यवहार चलता है, उसी तरह जैनियों में 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार प्रचलित है। परन्तु कुछ लोगों को इस व्यवहार में अर्वाचीनता की गन्ध आती है और इसलिए वे इस सुन्दर, सारगर्भित तथा सद्भाव-द्योतक वचन-व्यवहार को उठाकर उसकी जगह 'जुहारु' तथा 'इच्छाकार' का प्रचार करना चाहते हैं। पाँच महीने के करीब हुए, भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति जी ने अपना ऐसा ही मंतव्य प्रकट किया था, जो १७ दिसम्बर सन् १९२५ के जैनमित्र अंक नं. ८ में, 'अवश्य बाँचने योग्य' शीर्षक के साथ में प्रकाशित हुआ है, और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने उसे पढ़कर 'जुहारु' पर प्राचीनता की अपनी मुहर भी लगाई थी। मैं चाहता था कि उस समय उसपर कुछ लिखूँ, परन्तु अनवकाश ने वैसा नहीं करने दिया। हालके जैनमित्र अंक नं. २७ में इसी विषय का प्रश्न रामपुर स्टेट के भाई लक्ष्मीप्रसाद जी की ओर से उपस्थित किया गया है और उससे मालूम होता है कि ऐलक पन्नालालजी भी 'जयजिनेन्द्र' का निषेध करते हैं और उसकी जगह 'जुहारु' का उपदेश देते हैं। ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने उक्त प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि 'परस्पर जुहारु करने का ही कथन ठीक है' और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि आप भी 'जयजिनेन्द्र' का निषेध और उसके स्थान पर 'जुहारु' का विधान चाहते हैं। अतः आज इस विषयपर कुछ विचार करना ही उचित मालूम होता है और नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है।

रामपुरवाले भाई का वह प्रश्न इस प्रकार है : 'जैन समाज में जो 'जयजिनेन्द्र' का शब्द प्रचलित है और हर एक व्यक्ति एक दूसरे से समागम के समय जयजिनेन्द्र करता है। यहाँ पर जब श्री १०५ पूज्य ऐलक पन्नालाल जी महाराज पधारे, तो उन्होंने इसका निषेध किया कि इस तरह जिससे जयजिनेन्द्र कहा जाय वह जिनेन्द्र हो जाता है। इसलिए बजाय जयजिनेन्द्र के जुहारु करना चाहिये। क्योंकि यहाँ की समाज की समझ में यह बात न ठीक से आई है और न इसका अर्थ यह समझ में आता है इसलिये विद्वान् महोदय इसका जबाव दें।'

इस प्रश्न में ऐलक जी के जिस हेतु का उल्लेख

किया गया है, उसमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। समझ में नहीं आता कि जिसे 'जयजिनेन्द्र' कहा जाता है वह कैसे जिनेन्द्र हो जाता है। क्योंकि लोकमें किसीको 'राम राम' या 'जय रामजी' कहने से वह 'राम' हो जाता है अथवा समझा जाता है? और पारस्परिक अभिवादन में 'जय गोपाल' या 'जय श्रीकृष्ण' शब्दों के उच्चारण से क्या कोई गोपाल या श्रीकृष्ण बन जाता अथवा उस पद को प्राप्त हो जाता है? यदि ऐसा कुछ नहीं है, तो फिर परस्पर में 'जयजिनेन्द्र' कहने से ही कोई कैसे जिनेन्द्र हो जाता है, यह एक बहुत ही मोटी-सी बात है। कहनेवाले का अभिप्राय भी उस व्यक्तिविशेष को जिनेन्द्ररूप से सम्बोधन करने का नहीं होता, बल्कि उसके सम्बोधन का पद यदि होता है तो वह अलग होता है जैसे, भाईसाहब! जयजिनेन्द्र! , प्रेमीजी! जयजिनेन्द्र, महाशय! जयजिनेन्द्र, 'जयजिनेन्द्र' साहब! जयजिनेन्द्र जी! अजी जयजिनेन्द्र इत्यादि। ऐसी हालत में रामपुर के जैनसमाज की समझ में यदि ऐलक जी की उक्त बात नहीं आई और न 'जयजिनेन्द्र' शब्दोंपर से उन्हें वैसे अर्थका कुछ बोध ही हुआ, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। निःसंदेह ऐलक जी की उक्त बात निरी बच्चों को बहकाने जैसी जान पड़ती है, युक्ति और आगम से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। मालूम नहीं ब्रह्मचारी जी ने उक्त प्रश्न के उत्तर में जो सिर्फ इतना ही लिख दिया कि 'परस्पर जुहारु करने का ही कथन ठीक है' उसमें उन्होंने ऐलकजी के हेतु को भी स्वीकार किया या कि नहीं।

जहाँ तक मैं समझता हूँ ब्रह्मचारी जी के इस उत्तरमें उक्त हेतुका कोई आधार नहीं है, बल्कि उसका मूल कुछ दूसरा ही है, जो आगे चलकर मालूम होगा। हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि उनका यह संक्षिप्त उत्तर प्रश्न का समाधान करनेके लिये पर्याप्त नहीं है।

'जयरामजी' और 'जयश्रीकृष्ण' का अर्थ जिस प्रकार 'रामजी की जय' और 'कृष्ण जी की जय' होता है, उसी प्रकार 'जयजिनेन्द्र' का भी एक अर्थ 'जिनेन्द्र की जय' होता है। इसी से कुछ भाई कभी-कभी 'जयजिनेन्द्रदेव की' ऐसा भी बोलते हुए देखे जाते हैं। हिन्दुओं में भी 'जयराम जी की' ऐसा बोला जाता है। सिक्ख-भाइयों ने भी इसी आशयको लेकर अपने व्यवहारका सामान्य मन्त्र 'वाहे गुरुकी फतह' रक्खा

है। इस अर्थ में, 'जयजिनेन्द्र' यह 'जयोऽस्तु जिनेन्द्रस्य' शब्दों का हिन्दी रूप है। दूसरा अर्थ होता है 'जिनेन्द्र जयवन्त हों' और इस अर्थ में जयजिनेन्द्र को 'जयतु जिनेन्द्रः' का हिन्दी रूपान्तर समझना चाहिये। प्रायः इन्हीं दोनों अर्थों में 'जयजिनेन्द्र' वाक्यका व्यवहार होता है, और ये दोनों अर्थ एक ही आशयके द्योतक हैं। इनके सिवाय, एक तीसरा, अर्थ भी हो सकता है जो पारस्परिक व्यवहारमें अभिप्रेत नहीं होता, किन्तु विशेष रूप से जिनेन्द्रकी स्तुति आदिके समय ग्राह्य होता है और वह यह कि 'हे जिनेन्द्र आप जयवन्त हों'। इस अर्थ में जयजिनेन्द्र को 'जय त्वं जिनेन्द्र' इन शब्दों का संक्षिप्त रूप कह सकते हैं। इस अर्थका भी वही आशय है जो ऊपरके दोनों अर्थोंका है। भेद केवल इतना ही है कि इसमें जिनेन्द्रदेव को सम्बोधन करके उनका जयघोष किया गया है और पहले दोनों अर्थों-द्वारा बिना सम्बोधनके ही उनकी जय मनाई गई है। बात असल में एक ही है। इस तरह 'जयजिनेन्द्र' का उच्चारण बहुत कुछ सार्थक है। वह जिनेन्द्रकी स्मृतिको लिए हुए है, उनकी यादको ताजा करा देता है और जिनेन्द्रकी स्मृतिको स्वामी समन्तभद्रने क्लेशाम्बुधि से, दुखसमुद्र से, पार करने के लिये नौका के समान बताया है। इससे 'जयजिनेन्द्र' का उच्चारण मंगलमय होनेसे उपयोगी भी है। हम जितनी बार भी जिनेन्द्रका स्मरण करें उतना ही अच्छा है। हमें प्रत्येक सत्कार्य की आदिमें, सुव्यवस्था लाने अथवा सफलता प्राप्त करनेके लिये, जिनेन्द्रका, उसदेवताका, स्मरण करना चाहिये जो सम्पूर्ण दोषों से विमुक्त और गुणोंसे परिपूर्ण है। परस्परमें 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार इसका एक बहुत बड़ा साधन है। एक भाई जब दूसरे भाईको 'जयजिनेन्द्र' कहता है तो वह उसके द्वारा केवल जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण ही नहीं करता बल्कि दूसरे भाईको अपने साथ प्रेमके एक सूत्रमें बांधता है, उसे अपना बन्धु मानता है। कितने ही अंशोंमें उसे अभय प्रदान करता और अपनी सहायताका आशवासन देता है, वह अपने और उसके मध्यकी खाईको एक प्रकारसे पाट देता है अथवा उसपर एक सुन्दर पुल खड़ा कर देता है। उसके जयघोषका यह अर्थ नहीं होता कि वह जिनेन्द्रका कुछ हित चाहता है या उनकी किसी अधूरी जयको पूरा करनेकी भावना करता है। जिनेन्द्र भगवान् तो स्वयं कृतकृत्य हैं, विजयी और जयवन्त हैं, वे अपने संपूर्ण कर्मशत्रुओंको जीत चुके, उनका कोई शत्रु नहीं और न विश्वभरमें उन्हें कुछ जीतना या करना बाकी रहा है, वे राग-द्वेषसे बिल्कुल रहित हैं और यह भी इच्छा नहीं रखते कि कोई उनका जयघोष करे, फिर भी उनका जो जयघोष किया जाता है वह दूसरे ही सदाशयको लिये हुए है और उसके द्वारा

जयघोष करने वाला वह भाई, व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से यह सूचित करता है कि तुम्हारे, मेरे अथवा विश्वभरके हृदयमें जिनेन्द्र व्याप्त हो जायें, उनके निर्मल गुण हमारे अन्तःकरणको जीत लेवें, सबों पर उनका प्रभाव अंकित हो जाय अथवा सिक्का बैठ जाय, और इस तरह सब लोग जिनेन्द्रके गुणोंमें अनुरक्त होकर अपना आत्मकल्याण करने और अपने जीवन-मार्ग को सुगम तथा प्रशस्त बनाने में समर्थ हो जायें। इससे 'जयजिनेन्द्र' में कितना सुन्दर भाव भरा है, कितनी उच्च कोटिकी उत्तम भावना संनिहित है और कैसी ललित विश्व-प्रेमकी धारा उसमें से बह रही है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। ऐसी हालतमें क्या जयजिनेन्द्रका पारस्परिक व्यवहार उत्थापन किये जाने अथवा उठा देनेके योग्य हो सकता है? कदापि नहीं। मुझे तो सच्चे हृदयसे उच्चारित होनेपर यह अपनी तथा दूसरोंकी शुद्धिका प्यारा मंत्र मालूम होता है और इसीलिये सबोंके-द्वारा अच्छी तरहसे आराधना किये जानेके योग्य जान पड़ता है।

वास्तव में जयघोष करना जैनियों की प्रकृतिमें दाखिल है। उनका जन्म ही जयके लिये हुआ है, उनकी जन्मघुटीमें जयका समावेश है, वे जयके उपासक हैं और जय ही उनका लक्ष्य है।

जिय-भय-जिय-उवसग्गे जिय-इंदिय-परिसहे जिय-कसाए।
जिय-राय-दोस-मोहे जिय-सुह-दुक्खे णमंसामि ॥

अर्थात् जिन्होंने भयों को जीत लिया, उपसर्गोंको जीत लिया, इन्द्रियोंको जीत लिया, परीषहोंको जीत लिया और सुख-दुखको जीत लिया उन योगी-प्रवरोंको नमस्कार है।

इसके सिवाय, जिस पूज्य देवताके नामपर उनका 'जैन' ऐसा नाम-संस्कार हुआ है वह भी 'जिन' है, और 'जिन' कहते हैं जीतनेवाले (विजेता) अथवा जयशीलको, जो कर्म-शत्रुओं को निर्मूल करके पूर्णरूपसे अपना आध्यात्मिक विकास करता है, वही 'जिन' कहलाता है। जिनके उपासक होने अथवा जिन-पदको प्राप्त करना सबोंको इष्ट होनेसे जैनियोंका भी लक्ष्य वही जय-आध्यात्मिक विजय-पाना है अथवा उसी जयके उन्हें उपासक कहना चाहिये, जो भौतिक विषयसे बहुत ऊँचे दर्जे पर है और जिसके आगे भौतिक विजय हाथ बाँधे खड़ी रहती है। और इसलिये जयपूर्वक जिनेन्द्र शब्दका व्यवहार करना जैनियोंके लिये बहुत ही अनुकूल जान पड़ता है। परन्तु खेद है कि आज जैनियोंने अपनी इस प्रकृतिको भुला दिया, वे अपने स्वरूपको भुलाकर सिंहसे गीदड़ बन गये, उन्हें अपने लक्ष्यका ध्यान नहीं रहा और इसीसे वे विजेता न रहकर विजित,

पराजित और गुलाम बने हुए हैं। वे इन्द्रिय-विषयोंके गुलाम हैं, कषायोंके गुलाम हैं, परिस्थितियोंके गुलाम हैं, रूढ़ियोंके गुलाम हैं, अथवा अज्ञानके वशवर्ती होकर बाह्य पदार्थोंके गुलाम हैं। उनमें कोई राजा तक नहीं और न परिस्थितियों तथा रूढ़ियों को बदलने या उनपर विजय प्राप्त करनेकी ही किसीकी इच्छा है। उनके हृदय भय-विह्वल और आशाएँ दुर्बल हैं। ऐसी हालतमें उनसे 'जयजिनेन्द्र' के व्यवहारका छुड़ाना उन्हें और भी अपने कर्तव्यसे च्युत करना है। क्या आश्चर्य है जो इस 'जयजिनेन्द्र' के घोष में ही जैनियों को कभी अपनी जयशीलताका बोध हो जाय और वे अपनी अकर्मण्यता को छोड़कर सच्चे हृदयसे जिनेन्द्रका महान् जयघोष करते हुए अपने कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ हो जायें- अपनी आत्म-निधिको प्राप्त करनेके यत्नमें लग जायें। ऐसा होनेपर जैनी आज भी अपने आध्यात्मिक बल से संसारको विजित करके जिनेन्द्रकी तरफ उसका हित-साधन कर सकते हैं। और इसीलिये 'जयजिनेन्द्र' के इस पारस्परिक व्यवहारको उठा देना किसी तरह भी युक्तिसंगत मालूम नहीं होता।

अब में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति जी के वक्तव्य को लेता हूँ। उन्होंने इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है- "आजकल विशेषतर जैनजाति पुरुष व स्त्रियों में परस्पर और चिट्ठी-पत्री में जयजिनेन्द्र बोलने-लिखनेका रिवाज बहुत प्रचलित हुआ है। उसका कारण यह है कि कौन-सी जगह कौन-सा नमस्कार करना, व रूढ़ी न समझकर जयजिनेन्द्र बोलने का रिवाज पड़ गया है। सो यह रिवाज पूर्वके अनुसार और शास्त्रके वचनके अनुसार नहीं है। शास्त्रों में ऐसा कहा है -

नमोस्तु गुरुवे कुर्याद्वन्दना ब्रह्मचारिणो ।
इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वन्दामीत्यर्जिकादिषु ॥१॥

अर्थ - गुरुओंको नमोस्तु कहना, ब्रह्मचारियोंको वन्दना कहना, साधर्मियों को परस्पर इच्छाकार कहना और आर्यिकाओं को वंदामि कहना चाहिये। गृहस्थियों को एवं साधर्मियों को परस्पर जुहारु शब्द भी कहा है।

जिणवरधम्मं गहियं हणोइ दुट्ठ-कम्माणं ।
रुंधइ आसवद्वारं जुहारो जिणवरो भणियं ॥ १ ॥

जुगादि ऋषभं देवं हारिणं सर्वसंकटान् ।
रक्षन्ति सर्वजीवानां तस्माज्जुहारुरुच्यते ॥ २ ॥

श्राद्धाः परस्परं कुर्युरिच्छाकारं स्वभावतः ।
जुहारुरिति लोकेस्मिन्नमस्कारं स्वसज्जनाः ॥ ३ ॥

अर्थ - श्रावकगण परस्परमें एक दूसरेसे इच्छाकार

करें तथा लोक-व्यवहारमें सज्जनवर्गको 'जुहारु'। इस तरह का नमस्कार करना शास्त्रों में बतलाया है। सो बोलने, चिट्ठियों तथा पाठशाला, बोर्डिंग, कन्याशाला, श्राविकाश्रम हर जगह यह पद्धति प्रचलित होनी चाहिये। हम बार-बार कहते हैं कि इसका प्रचार होना चाहिये।"

भट्टारकजी के इस संपूर्ण वक्तव्य का सार सिर्फ इतना ही है कि "जैनियोंमें परस्पर जयजिनेन्द्र बोलनेका जो रिवाज है वह पहले के रिवाजके अनुसार नहीं है और न शास्त्र-वचनों के ही अनुसार है। उसका कारण नासमझी है। पहले उनमें इच्छाकार तथा जुहारु बोलनेका रिवाज था, शास्त्रोंमें भी उसका विधान मिलता है और इसलिये अब भी उसीका सर्वत्र प्रचार होना चाहिये।"

आपने प्रमाणमें शास्त्रों के चार पद्य भी उद्धृत किये हैं, परन्तु उनकी बावत यह बतलानेकी कृपा नहीं की कि वे कौन-से शास्त्र के वाक्य हैं अथवा किसके द्वारा रचे गये हैं, और न यही बतलाया कि 'जयजिनेन्द्र' का रिवाज कबसे प्रचलित हुआ और किस आधारपर वे उसके प्रचलित होनेके समयको निश्चित करनेमें समर्थ हो सके हैं, जिससे किसी रिवाजके पहले या पीछे प्रचलित होनेकी बातकी जाँच की जा सकती अथवा यही निश्चय किया जा सकता कि वे वाक्य कहाँ तक मान्य किये जानेके योग्य हैं। आपने यह भी नहीं बतलाया कि 'जुहारु' का रिवाज 'इच्छाकार' से पहले हुआ या पीछे। यदि पीछे हुआ तो वह पहले रिवाजके मौजूद होते हुए क्यों मान्य किया गया? यदि पहले हुआ तो उसकी मौजूदगीमें इच्छाकारके विधानकी क्या जरूरत पैदा हुई और वह क्यों स्वीकार किया गया? और यदि दोनों का विधान युगपत् आरम्भ हुआ और युगपत् ही चलता है तो फिर उस ग्रन्थमें जुहारुका विधान क्यों नहीं, जिसका 'नमोस्तु' पद्य उद्धृत किया गया है? यदि एकके बाद दूसरा अच्छा रिवाज भी पहलेके स्थानपर प्रचलित हुआ करता है और वह आपत्तिके योग्य नहीं होता तो फिर 'जयजिनेन्द्र' के रिवाजपर ही आपत्ति कैसी? उसमें कौन-सी बुराई है? साथ ही, इस बातका भी कोई अच्छा स्पष्टीकरण नहीं किया कि दोनोंमेंसे जुहारुका किस जगह और इच्छाकारका कहाँपर व्यवहार होना चाहिये, जिससे यहाँ तो उस नासमझीको अवसर न रहता, जिसकी आप जयजिनेन्द्र के सम्बन्धमें शिकायत करते हैं।

जुहारु की बाबत जो तीन पद्य आपने उद्धृत किये हैं उनसे भी प्रकृत विषयका कोई स्पष्टीकरण नहीं होता। उनकी स्वयं स्थिति बहुत कुछ संदिग्ध जान पड़ती है। तीसरे पद्यका जो अर्थ भट्टारकजी ने किया है वह ठीक नहीं है। उससे यह

पाया जाता है कि श्रावकजन परस्पर में तो 'इच्छाकार' करें और दूसरे (अजैनादि) सज्जनोंके प्रति उन्हें 'जुहारु' नामका नमस्कार करना चाहिए। परन्तु मूलमें 'सज्जनाः' पद प्रथमान्त पड़ा है और 'श्राद्धाः' पदके समकक्ष है। इससे श्रावकगण सज्जनवर्ग को जुहारु करें, यह अर्थ नहीं बनता बल्कि सज्जनजन परस्पर में जुहारु करें, ऐसा अर्थ निकलता है। परन्तु श्रावकजनों से भिन्न दूसरे वे सज्जन-जन कौन-से हैं जिनके लिये परस्परमें जुहारु का यह पृथक विधान किया गया है, यह बात कुछ समझ में नहीं आती और न इससे श्रावकों में परस्पर या दूसरों के प्रति जुहारु की बात ही कायम रहती है। अतः इस पद्य की हालत संदिग्ध है और वह प्रकृत विषय का समर्थन करने के लिये समर्थ नहीं हो सकता।

रहे शेष दो पद्य, उनकी हालत और भी ज्यादा खराब है। वे किसी ग्रन्थ-विशेष के पद्य भी मालूम नहीं होते, बल्कि 'जुहारु' की सार्थकता सिद्ध करने के लिये किसी अनाड़ी के द्वारा खंडरूप में गढ़े गये जान पड़ते हैं। इसी से उनके शब्द-अर्थ का सम्बन्ध कुछ ठीक नहीं बैठता-कहाँ 'जुगादि', कहाँ 'ऋषभं देवं हारिणं' ये द्वितीया के एकवचनान्त पद, कहाँ 'रक्षन्ति' बहुवचनान्त क्रिया और कहाँ 'जुहारुः उच्यते' पदों की 'जुहारुरुच्यते' यह विचित्र सृष्टि (संधि) ! व्याकरण की रीति से इन सबकी परस्पर कोई संगति नहीं बैठती। इसी तरह गाथा के 'जुहारो जिगवरो भणीयम्' और 'धम्मं गहियं' पद भी दूषित जान पड़ते हैं। और इसलिये 'जुहारु' शब्दकी जिस निरुक्ति-कल्पना के लिये इन पद्यों की रचना हुई है उसकी भी इनसे यथेष्ट रूपमें कोई सिद्धि नहीं होती। बाकी जुहारु के परस्पर व्यवहारका इनमें कोई विधान नहीं, यह स्पष्ट ही है। यदि ये दोनों पद्य किसी ग्रन्थ-विशेषके होते और उसमें जुहारुका विधान किया गया होता, तो भट्टारकजी उन पद्योंको भी जरूर साथमें उद्धृत करते। इससे भी ये पद्य किसी ग्रन्थ-विशेषके अंश मालूम नहीं होते। भट्टारकजी ने इन दोनों पद्योंका कोई अर्थ भी नहीं दिया। नहीं मालूम, इसका क्या कारण है और इस तरह क्या बात सिद्ध करने के लिये इन्हें उद्धृत किया गया है? हाँ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने, अपने सम्पादकीय नोटमें, इनका अर्थ जरूर दिया है और यों भट्टारकजी के लेख की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया है। आपका यह नोट इस प्रकार है—

'जुहारु का अर्थ ऊपरकी गाथा तथा श्लोकमें यह है

कि जिनवर-धर्मको ग्रहण करो, अष्ट कर्मोंका नाश करो तथा आस्रव के द्वार को रोको। और 'जु' से युगकी आदि ऋषभदेव, 'हा' से जो सर्व कष्टोंको हरने वाले हैं, 'र' से जो सबकी रक्षा करते हैं। जुहारुका प्राचीन रिवाज मालूम होता है।'

इस नोटमें अन्तका एक वाक्य तो ब्रह्मचारीजीकी सम्मति का है, बाकी सब गाथा तथा श्लोकका क्रमशः अर्थ है, परन्तु ब्रह्मचारीजीने गाथाका जो अर्थ किया है वह ठीक नहीं है। गाथामें ऐसा कोई क्रिया-पद नहीं, जिसका अर्थ 'ग्रहण करो', 'नाश करो' अथवा 'रोको' होवे। जान पड़ता है गाथा में 'धम्मो' को 'धम्मं' लिख देनेसे ही आपको क्रिया-पदों का अर्थ समझनेमें गलती हुई है। और इससे आपने 'धम्मो' के अशुद्ध विशेषण पद 'गहियं' को भी क्रियापद समझ लिया है। अस्तु, इस गाथाका आशय यह होता है कि 'ग्रहण किया हुआ जिनवर-धर्म आठ दुष्ट-कर्मों को हनता है और आस्रव के द्वार को रुद्ध (बन्द) करता है। (इस तरह यह) 'जुहारु' जिनवरका कहा हुआ है। गाथाके इस आशयपरसे 'जुहारु' शब्दकी कोई निष्पत्ति नहीं होती। यदि 'जिनवरधम्मो' का 'जि', 'हणोइ' का 'ह' और 'रुंधई' का 'रु' ऐसे तीनों पदोंके आद्य अक्षरों का संग्रह किया जावे तो उससे 'जिहुरू' होता है— 'जुहारु' नहीं और इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि यह गाथा साधारण-बुद्धि के किसी अनाड़ीकी बनाई हुई है, जिसने वैसे ही उसके-द्वारा जुहारुके विषयमें अपना मन-समझौता कर लिया है। इसी तरहका मन-समझौता अगले 'जुगादि ऋषभं' नामके पद्यमें भी किया गया है, जो व्याकरणकी त्रुटियों से बहुत कुछ परिपूर्ण है और जिसमें 'जुहारु' की जगह 'जुहार' शब्दका ही प्रतिपादन किया गया है। इन्हीं अस्त-व्यस्त, संदिग्ध और ग्रन्थादिके प्रमाण रहित पद्योंके आधारपर ब्रह्मचारीजी ने 'जुहारु को प्राचीन रिवाज' समझा है और उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कहनेके लिये भी वे समर्थ हो सके हैं कि 'परस्पर जुहारु करनेका ही कथन ठीक है', यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य होता है? समझमें नहीं आता इन पद्योंके किस अंशपरसे आपने जुहारुके रिवाजका और 'जय जिनेन्द्र' की अपेक्षा उसकी प्राचीनताका अनुभव किया है। क्या भगवान् महावीर अथवा किसी दूसरे तीर्थकरने 'जुहारु' का उपदेश दिया है और उसकी उक्त प्रकारसे दो भिन्न व्याख्याएँ की हैं, ऐसा किसी मान्य आचार्य-द्वारा निर्मित प्राचीन ग्रन्थमें कोई उल्लेख मिलता है? क्या इतिहाससे यह बात प्रमाणित की जा सकती

है कि भगवान् महावीरके समयमें भी जुहारका प्रचार था? अथवा केवल संस्कृत-प्राकृतके पद्योंमें निबद्ध हो जानेसे ही 'जुहार' को प्राचीनताकी पदवी प्राप्त हो गई है? यदि ऐसा है तब तो 'जय जिनेन्द्र' के लिये बहुत बड़ा द्वार खुला है। और सैकड़ों अच्छे-से-अच्छे पद्य पेश किये जा सकते हैं। इसके सिवाय, यदि मान भी लिया जाय कि 'जय जिनेन्द्र' का रिवाज जुहार की अपेक्षा प्राचीन न होकर अर्वाचीन है तो इतनेपरसे ही क्या हो गया? क्या प्राचीन न होनेपर उसकी समीचीनता नष्ट हो गई? वह अच्छा, श्रेष्ठ, सच्चा और समुचित व्यवहार नहीं रहा? और क्या प्राचीन सभी प्रवृत्तियाँ उपादेय होती हैं? संसारी जीवोंकी प्रवृत्तियाँ अनादि कालसे मिथ्यात्वकी ओर हैं-सम्यक्त्वकी प्राप्ति उन्हें बादकी होती है! क्या मिथ्यात्व-प्रवृत्तिके प्राचीन होनेसे ही उसे नहीं छोड़ना चाहिये अथवा सम्यक्त्वको नहीं ग्रहण करना चाहिये? यदि ऐसा कुछ नहीं है, बल्कि प्राचीनतापर समीचीनताको अधिक महत्त्व प्राप्त है, पुरानी प्रवृत्ति उपयुक्त न होने अथवा देश-कालानुसार उपयुक्त न रहनेपर, छोड़ी जा सकती है और उसकी जगह दूसरी अनुकूल तथा हितरूप-प्रवृत्ति ग्रहण की जा सकती है-रिवाज कोई अटल सिद्धान्त नहीं होता-तो फिर 'जयजिनेन्द्र' पर आपत्ति कैसी? और यह कोरी तथा कल्पित प्राचीनताका मोह कैसा? जैनियोंके लिये 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार एक समीचीन व्यवहार है, वर्तमान देश-काल भी उसे चाहता है और इसलिये उसका विरोध करना अनुचित है। इस व्यवहारसे जैनियोंके सम्यक्त्वमें कोई बाधा नहीं आती, उनके व्रतोंमें भी कोई दूषण नहीं लगता। और जैनियोंके लिये वे संपूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण कही गई हैं जिनसे उनके सम्यक्त्वको हानि न पहुँचती हो या उनके व्रतोंमें कोई प्रकारका दोष न लगता हो। जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है-

सर्व एव हि जैानानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्व-हानिर्न यत्र न व्रत-दूषणम् ॥

यशस्तिलक

इस दृष्टिसे भी जयजिनेन्द्र का व्यवहार उत्थापन किये जाने के योग्य नहीं है- अर्वाचीन मानलेनेपर भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता। वह जैनियोंके लिए एक सुन्दर, श्रेष्ठ और समीचीन व्यवहार होनेकी क्षमता रखता है। 'जुहार' की अपेक्षा 'जयजिनेन्द्र' का अर्थ भी बहुत कुछ स्पष्ट तथा व्यक्त है। मेरी रायमें 'जुहार' का युग यदि किसी समय था तो वह चला गया, अब 'जयजिनेन्द्र' का युग है। और इसलिए

सबोंको सच्चे हृदयसे परस्परमें 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार करना चाहिये।

रही 'इच्छाकार' की बात, इच्छाकार 'इच्छामि' ऐसा उच्चारण करनेको कहते हैं। और 'इच्छामि' का अर्थ होता है-इच्छा करता हूँ या चाहता हूँ। परन्तु किस बातकी इच्छा करता हूँ अथवा क्या चाहता हूँ यह इस शब्दोच्चारणपरसे कुछ मालूम नहीं होता। हो सकता है कि जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति यह शब्दोच्चारण किया जाय उसके व्यक्तित्वकी इच्छा करना, उसके पदस्थ या धार्मिक जीवनको चाहना, सराहना अथवा वैसे होनेकी वांछा करना ही उसके-द्वारा अभीष्ट हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह शब्द समाजके पारस्परिक व्यवहार में इतना अधिक अप्रचलित है कि उसकी स्थिति पर से यह शंका पैदा हुए बिना नहीं रहती कि वह कभी सर्वसाधारण जैनियोंके पारस्परिक व्यवहारका एक सामान्य मंत्र रहा है या कि नहीं। अस्तु, इस विषयमें जब प्राचीन साहित्यको टटोला जाता है तो सोमदेवसूरिके 'यशस्तिलक' ग्रन्थ पर से, जो कि शक सम्वत् ८८१का बना हुआ है, यह मालूम होता है कि 'इच्छाकार' का विधान क्षुल्लक-क्षुल्लक के लिए है-अर्थात् एक क्षुल्लक (११वीं प्रतिमाधारक श्रावक) दूसरे क्षुल्लकको 'इच्छामि' कहे-दूसरे व्रती श्रावकों के लिए उसका विधान नहीं, उनके लिए मात्र विनय-क्रिया कही गई है। यथा -

अर्हदरूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया ।

अन्योऽन्यक्षुल्लके चार्हमिच्छाकारवचः सदा ॥

इन्द्रनन्दि-आचार्य-प्रणीत 'नीतिसार' के निम्न वाक्यसे भी इसी आशयकी अभिव्यक्ति तथा पुष्टि होती है-

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणां च वन्दना ।

श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते ॥

इसमें 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग न करके उसे 'उत्तम श्रावक' तथा 'उच्च श्रावक' ऐसे पर्याय-नामोंसे उल्लिखित किया गया है। बात एक ही है, क्योंकि रत्नकरण्डश्रावकाचारादि ग्रन्थों में 'उत्कृष्ट' तथा 'उत्तम' श्रावक की संज्ञा ११वीं प्रतिमावाले श्रावकको दी गई है। जिसके आजकल 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' ऐसे दो भेद किये जाते हैं और इसलिए क्षुल्लक-ऐलक दोनों के लिए इच्छाकारका विधान है-दूसरे श्रावकों के लिए नहीं, यह इस पद से स्पष्ट जाना जाता है।

अमितगति-आचार्य के 'उपासकाचार' में, जो कि विक्रम की ११वीं शताब्दी का बना हुआ है, एक पद्य निम्नप्रकार से पाया जाता है-

इच्छाकारं समाचारं संयमाऽसंयमस्थितः ।

विशुद्धवृत्तिभिः सान्द्रं विदधाति प्रियंवदः ॥

यह पद्य उत्कृष्ट श्रावक की चर्या का कथन करते हुए मध्य में दिया गया है—इससे पहले तथा पिछले दोनों पद्यों में 'उत्कृष्ट श्रावक' का उल्लेख है—और इसलिए इस पद्य में प्रयुक्त हुए 'संयमासंयमस्थितः' पद का वाच्य 'उत्कृष्ट श्रावक' जान पड़ता है। उसी के लिए इस पद्य में यह बतलाया गया है कि वह विशुद्धवृत्तिवालों के साथ 'इच्छाकार' नाम के समाचार का व्यवहार करे। उत्कृष्टश्रावक की दृष्टि से विशुद्ध-वृत्तिवाले मुनि हो सकते हैं। पं. कल्लप्पा भरमप्पा नितवे ने भी, इस पद्य के मराठी अनुवाद में 'विशुद्ध-वृत्तिभिः' पद से उन्हीं का आशय व्यक्त किया है। ज्यादा-से-ज्यादा इस पद के—द्वारा क्षुल्लक-ऐलक का भी ग्रहण किया जा सकता है और इस तरह यह कहा जा सकता है कि अमितगति आचार्य ने इस पद्य के द्वारा उत्कृष्ट श्रावकों के लिए मुनियों के प्रति, अथवा परस्पर में भी, 'इच्छामि' कहने का विधान किया है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि जो लोग विशुद्ध-वृत्ति के धारक न होकर साधारण गृहस्थ जैनी हैं—अव्रती अथवा पाक्षिक श्रावक हैं— उनके साथ भी इच्छाकार के व्यवहार का वैसा होने की इच्छा आदि को व्यक्त करने का विधान किया गया है।

इसतरह तीन आचार्यों के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि 'इच्छाकार नाम के समाचार का विधान प्रायः क्षुल्लकों अथवा ११वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों के लिए है—साधारण गृहस्थ उसके अधिकारी तथा पात्र नहीं हैं।' जान पड़ता है यही वजह है, जो समाज में इच्छाकार का व्यवहार इतना अधिक अप्रचलित है अथवा यों कहिये कि समाज अपने व्यवहार में उससे परिचित नहीं है और इसीलिये सर्वसाधारण जैनियों में अब इच्छाकार के सर्वत्र व्यवहार की प्रेरणा करना कहाँ तक युक्तिसंगत तथा अभिवाञ्छनीय हो सकता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, उत्कृष्ट श्रावक परस्पर में इच्छाकार का व्यवहार करें तो वह ठीक है, उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं और न उससे जयजिनेन्द्र की सर्वमान्यता में कोई अन्तर पड़ता है।

यहाँ पर मैं एक वाक्य और भी प्रकट कर देना उचित समझता हूँ और वह १३वीं शताब्दी के विद्वान् पं. आशाधर जी के सागारधर्माभूत का निम्न वाक्य है—

स्वपाणिपात्र एवात्ति, संशोध्यान्येन योजितम् ।

इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥ ७-४९ ॥

यह पद्य ११वीं प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट-श्रावक की चर्या का कथन करते हुये दिया गया है और इसके उत्तरार्ध में यह बतलाया गया है कि सब आपस में 'इच्छाकार' नाम का समाचार का व्यवहार करते हैं। परन्तु वे 'सब' कौन? ग्यारह प्रतिमाओं के धारक संपूर्ण श्रावक या ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक वे तीनों प्रकार के उत्कृष्ट-श्रावक, जिनके आशाधर जी ने 'एकभिक्षानियम', 'अनेकभिक्षानियम' और 'आर्य' ऐसे नाम दिये हैं? प्रकरण को देखते तथा उक्त आचार्य-वाक्यों की रोशनी में इस पद्य के उत्तरार्ध को पढ़ते हुए यह मालूम होता है कि 'सर्वे' पद का वाच्य ११वीं प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट-श्रावक-समूह होना चाहिये। परन्तु आशाधर जी ने इस ग्रन्थ पर स्वयं टीका भी लिखी है और इसलिये उन्होंने इस पद का जो अर्थ दिया हो वही मान्य हो सकता है। माणिकचन्द्रग्रन्थमाला में वह टीका जिस रूपसे मुद्रित हुई है उसमें इस पद का अर्थ 'एकदशाऽपि श्रावकाः' दिया है—अर्थात्, ग्यारह प्रतिमाओं के धारक श्रावकों को 'सर्वे' पद का वाच्य ठहराया है। हो सकता है कि यह पाठ कुछ अशुद्ध हो और 'एकादशमस्थाः' आदि ऐसे ही किसी पाठ की जगह लिख गया अथवा छप गया हो, जिसका अर्थ ग्यारह प्रतिमा न होकर ग्यारहवीं प्रतिमा होता हो। परन्तु यदि यही पाठ ठीक है और पं. आशाधर जी ने अपने पद का ऐसा ही अर्थ किया है तो कहना होगा कि पं. आशाधरजी ने प्रतिमाधारी सभी नैष्ठिक श्रावकों के लिये परस्पर इच्छाकार का विधान किया है और उनके इस कथन से एक क्षुल्लक तथा ऐलक को भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकों के लिए परस्पर इच्छाकार का विधान किया है और उनके इस कथन से एक क्षुल्लक तथा ऐलक को भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक को 'इच्छामि' कहना चाहिये। ऐसी हालत में आपका यह विधान कौन-से आचार्य-वाक्य के अनुसार है यह कुछ मालूम नहीं होता। परन्तु वह किसी आचार्य-वाक्य के अनुसार हो या न हो, इसमें सन्देह नहीं कि आपका यह विधान नैष्ठिक (प्रतिमाधारी) श्रावकों के लिये है—अव्रती आदि साधारण गृहस्थों अथवा पाक्षिक श्रावकों के लिए नहीं। और समाज में अधिकांश संख्या साधारण गृहस्थों तथा पाक्षिक-श्रावकों की ही पाई जाती है, प्रतिमाधारी श्रावक बहुत ही थोड़े हैं, उनकी संख्या इनी-गिनी हैं और इसलिये सर्वसाधारण जैनियों को परस्पर में 'इच्छामि' कहने के लिये प्रेरित करना आशाधरजी के इस वाक्य के भी अनुकूल मालूम नहीं होता। उनके कथनानुसार प्रतिमाधारी श्रावकों के लिये ही यह विधि होनी चाहिये—दूसरे गृहस्थ इसके अधिकारी नहीं हैं।

इस सब कथन से सर्वसाधारण जैनियों के लिए 'जुहारु' तथा 'इच्छाकार' में आजकल कोई उपयुक्तता मालूम नहीं होती। प्रत्युत इसके, जयजिनेन्द्र का व्यवहार उनके लिये बहुत ही उपयोगी तथा समयानुकूल जान पड़ता है। युक्ति तथा आगम से भी उसमें कोई विरोध नहीं आता। इसलिए सबों को आमतौर पर हृदय से 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार करना चाहिये और उसे अपने लोक-व्यवहार का एक ऐसा सामान्य जातीय-मंत्र बना लेना चाहिये जो सबों को एक सूत्र में बाँध सके। उनके जयघोष में परस्पर प्रेम का संचार तथा बन्धुत्व का विकास होना चाहिये और साथ ही जगत को उसके हित का आश्वासन मिलना चाहिये। एक

भट्टारक, क्षुल्लक, ऐलक या ब्रह्मचारी को यदि कोई गृहस्थ 'जयजिनेन्द्र' कहता है तो इससे उनके अप्रसन्न होने की कोई वजह नहीं हो सकती। उन्हें अपने उपास्य देव 'जिनेन्द्र' का जयघोष सुनकर खुश होना चाहिए और उत्तर में बिना किसी संकोच के जिनेन्द्रका जयघोष करके अपने उस आनन्द को व्यक्त करना चाहिये अथवा उस जयघोष-द्वारा अपनी जातीयता की प्रतिध्वनि करनी चाहिए। आशा है सभी सहृदय जैनी 'जयजिनेन्द्र' की इस उपयोगिता को समझेंगे और उसे, अपने व्यवहार-द्वारा दृढता के साथ अपनाकर, अपना एक जातीय-मंत्र बना लेने में भरसक यत्न करेंगे।

'युगवीर निबन्धावली' (द्वि. खण्ड) से साभार

पुनर्जन्म : क्या वापस आते हैं लोग

एक व्यक्ति भविष्यवाणी करता है कि उसकी शीघ्र ही मृत्यु होने वाली है, लेकिन वह अपने ही परिवार में दोबारा जन्म लेगा और कुछ सालों बाद वह व्यक्ति जन्म लेता है, अपने ही बेटे के घर, उसकी संतान के रूप में। यह किसी फिल्म की कहानी या कोरी कल्पना नहीं, यह वाक्या है अमेरिका के एक शहर का। सन् १९४९ की बात है, यहाँ के विलियम जॉर्ज नाम के एक व्यक्ति को आभास हो गया कि उसकी मौत निकट है। उसने अपने बेटे और बहू से कहा कि वह इसी घराने में दोबारा जन्म लेगा। उसने अपने शरीर पर पड़े चोट के निशान को उन्हें दिखाते हुए कहा कि यह निशान ही उनके पुनर्जन्म का पक्का प्रमाण होगा।

कुछ दिनों बाद जॉर्ज की डेथ हो गई और उसके पुनर्जन्म की बात भी हवा में उड़ गई, लेकिन काल का चक्र चलता गया। जॉर्ज की पुत्रवधू गर्भवती हुई और उसने एक बेटे को जन्म दिया। उसके शरीर पर जॉर्ज वाला चोट का निशान देखकर सभी हतप्रत रह गए। उसका नाम रखा गया जॉर्ज जूनियर।

उसके हाव-भाव बिलकुल अपने दादा की ही तरह थे। एक बार जब उसने अपनी माँ को तिजोरी खोलते हुए देखा, तो उसमें रखी एक अंगूठी को देख तुरंत बोला, 'अरे! यह तो मेरी अंगूठी है, लाओ, इसे मुझे दे दो।'

यह पुनर्जन्म की अकेली घटना नहीं है, ऐसे तमाम वाक्यात हैं, जो पुनर्जन्म के अस्तित्व पर सोचने को मजबूर कर देते हैं।

मनोचिकित्सक डॉ. इवान स्टीवेंशन ने ऐसे २० केसों पर रिसर्च कर 'ट्वेंटी केसेज सजिस्टिव ऑफ रीइन्कारनेशन' नामक पुस्तक में पुनर्जन्म व उससे संबंधित अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है।

पुनर्जन्म का सिलसिला पौराणिक काल से चला आ रहा है, इससे जुड़ी एक रोचक कथा का वर्णन श्रीमद्भगवद् गीता में भी है, उसमें पुनर्जन्म के पीछे इनसान के सांसारिक माया-मोह को उत्तरदायी माना गया है।

बड़ा ही अंतर्द्वंद्व वाला विषय है पुनर्जन्म। इस विषय में जितना गहराई में जाते हैं, बात उतनी ही उलझती जाती है और नए प्रश्न उठ खड़े होते हैं। पुनर्जन्म के कॉन्सेप्ट पर क्लीनिकल साइकोलॉजिस्ट डॉ. नीलिमा पांडेय बताती हैं कि अभी तक मनोविज्ञान रीबर्थ को अवचेतन मस्तिष्क के प्रभाव से जोड़कर समझने की कोशिश कर रहा है। डॉ. पांडेय के अनुसार, इस सब्जेक्ट पर जयपुर स्थित पैरासाइकोलॉजी इंस्टीट्यूट में काफी रिसर्च चल रही है। चूंकि रीबर्थ का आर्टिफिशियली क्रिएशन संभव नहीं है, इस कारण कुछ भी साइंटिफिकली प्रूव नहीं हो सका है। परंतु कुछ लोगों के लिए विज्ञान के सच से ज्यादा बड़ी जीवन की सचाइयाँ होती हैं। वे जिन घटनाओं को अपने आस-पास घटित होते देखते हैं, उन्हें ही सच मान लेते हैं।

१८ जून २००५ 'टीन वर्ड' से साभार

ऐलक-चर्या

क्या होनी चाहिये और क्या हो रही है?

स्व. पं. मिलापचन्द्र जी कटारिया

हमारे कितने ही भाई ऐलक और मुनि में इतना ही भेद समझते हैं कि ऐलक लंगोट लगाते हैं और मुनि लंगोट नहीं लगाते नग्न रहते हैं। इसके सिवाय दोनों की चर्या में और कोई अन्तर नहीं समझते। और ऐलक जी भी स्वयं ऐसा ही समझते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है और आगम भी ऐसी साक्षी नहीं देते। शास्त्रों में बाह्यवेश के सिवाय, दोनों की चर्या में भी कुछ अन्तर जरूर रखा है। पर वह अन्तर आज लोप किया जा रहा है और बहुत कुछ लोप हो भी चुका है, जिसका भान विद्वानों तक को नहीं होता। किन्तु तद्विषयक आगमों के देखने वालों को उक्त भेद स्पष्ट नजर में आने लगता है, वह कैसे छिपाया जा सकता है।

ऐलक यह एक श्रावक का उत्कृष्ट लिंग है। इसके ऊपर मुनि होने के अतिरिक्त और कोई श्रावक का दर्जा नहीं। इसी अभिप्राय से किन्हीं ग्रन्थों में उनका लघुमुनि, देशयति, मुनिकुमार या ऐसे ही किसी नाम से उल्लेख किया गया है। जब तक शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी पड़ा रहेगा तब तक मुनि नहीं कहाये जा सकते, फिर उनके पास तो वस्त्र की बड़ी सी कौपीन रहती है। इसलिए ऐलकों की मान्यता और चर्या ऐलकों ही के अनुरूप होनी चाहिये, न कि मुनि के तुल्य। लेकिन हम देखते हैं कि ऐलक पद के लिए पूर्वाचार्यों ने जो कुछ सीमा बाँधी थी आज उसका उल्लङ्घन किया जा रहा है।

ग्रन्थों में लिखा है कि जो जिस प्रतिमा का धारी है उसे उससे नीचे की प्रतिमाओं का पालना भी अनिवार्य है। प्रसिद्ध आचार्य स्वामी समन्तभद्र के 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थ को कौन नहीं जानता। जैन विद्यालयों के छोटे-छोटे विद्यार्थी तक उससे परिचित हैं, उसमें साफ लिखा है कि-

श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।

स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥ १३६ ॥

अर्थ-अर्हन्तदेव ने श्रावकों के ग्यारह पद बतलाये हैं। उनमें अपनी प्रतिमा के गुण पहिले की प्रतिमाओं के गुणों के साथ-साथ अनुक्रम से बढ़ते हुये रहते हैं।

यही बात निम्न ग्रन्थों में भी पायी जाती है -

अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः (सोमदेवकृत यशस्तिलक ४४ वां काव्य)

स्थानेष्वेकादशस्वेवं स्वगुणाः पूर्वसद्गुणैः।

संयुक्ताः प्रभवन्त्येते श्रावकाणां यथाक्रमम् ॥ ५४९ ॥

(वामदेवकृत भावसंग्रह)

व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धाः भवन्ति। (चामुण्डराय कृत चारित्रसार संस्कृत पृष्ठ २)।

सकलकीर्ति ने 'धर्मप्रश्नोत्तर' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ६० में उत्कृष्ट श्रावक कौन कहलाता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि, 'जो अपनी पूर्ण शक्ति से ग्यारह प्रतिमाओं का (न कि एक ११वीं का) पालन करते हैं, वे उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।'

ग्रन्थों के इस कथन के अनुसार ऐलकों को, जो कि ११वीं प्रतिमा के धारी होते हैं नीचे की दसों प्रतिमाओं का पालन करना चाहिये किन्तु आजकल के प्रायः ऐलक प्रोषध नाम की चौथी प्रतिमा का जिसमें अष्टमी-चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का त्यागरूप प्रोषधोपवास करना होता है कोई पालन नहीं करते। वे तो अपने को मुनि की तरह अतिथि बतलाते हैं। कदाचित् किसी ग्रन्थ में प्रसंगोपात्त कहीं उन्हें अतिथि लिख दिया हो, तो उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि पर्व तिथियों में उनके लिए उपवास करने का नियम टूट गया समझ लिया जावे। वहाँ अतिथि शब्द को भिक्षुक अर्थ में लेना चाहिए, क्योंकि ऐलक भिक्षाभोजी होते हैं। अगर अतिथि शब्द का यह मतलब न लिया जावेगा तो आचार्यों की आज्ञा एक दूसरे के विरुद्ध पड़ेगी।

बल्कि निम्नलिखित ग्रन्थों में ११ वीं प्रतिमा का स्वरूप वर्णन करते हुये उसके धारी को पर्वतिथियों में उपवास करने की खासतौर से प्रेरणा की गई है-

उववासं पुणणियमा चउव्विहं कुणइं पव्वेसु ॥ ३०३ ॥

(वसुनन्दिकृत श्रावकाचार)।

पर्वसु चोपवासं नियमतश्चतुर्विधं कुरुते। (तत्त्वार्थवृत्ति भास्करनन्दिकृत अ. ७, सू. ३९, पृष्ठ १८९)।

कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधं ॥ ३९ ॥

(आशाधरकृत सागारधर्मावृत अ० ७)।

चतुर्विधोपवासं च कुर्यात्पर्वसु निश्चयात् ॥ ६३ ॥
(मेधावीकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार)।

इन चारों उद्धरणों में 'निश्चयात्' आदि वाक्यों से इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया गया है कि वह निश्चय से चारों पर्वतिथियों में उपवास करे ही। स्वयं आशाधर ने स्वोपज्ञ टीका में उक्त श्लोकार्द्ध के 'कुर्यादेव' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि-

कुर्यादेव अवश्यं विदध्यादसौ। कं उपवासमनशनं। किं विशिष्टं चतुर्विधं चतस्रोविधा आहारास्त्याज्या यस्मिन्नसौ-
चतुर्विधस्तं। चतुष्पर्व्या मासि मासि द्वयोरष्टम्योर्द्वयोश्चतुर्दशयोः।

ग्यारहवीं प्रतिमा में व्रत एक ऐसी ऊँची हद तक पहुँच जाते हैं कि नीचे की प्रतिमाओं के व्रत बिना कहे ही उनमें अन्तर्लान हो जाते हैं, किन्तु प्रोषधोपवास प्रतिमा का वहाँ अन्तर्भाव नहीं होता, इसलिए उसे यहाँ खासतौर से अलग कहा है।

मुनि और ऐलक में भेद डालने वाली यह तो हुई एक बात। अब हम एक दूसरी बात और बतलाते हैं। वह यह है कि, आजकल जो ऐलक खड़े आहार लेते हैं, यह विधान मुनियों के लिये है, ऐलकों के लिए नहीं। इस विषय के लगभग सभी ग्रन्थों में ११वीं प्रतिमाधारी को केवल बैठे भोजन करने की इजाजत दी है। पाठकों की जानकारी के लिए उन सब प्रमाणों को नीचे उद्धृत किये देते हैं-

पाणिपात्रपुटेनोपविश्यभोजी (चारित्रसार संस्कृत पृष्ठ १९)।

भुंजइ पाणपत्तमि भायणे वा सुई समुवइट्टो ॥३०३ ॥
(वसुनन्दि श्रावकाचार)।

पाणिपात्रे भाजने वा समुपविष्टः सन्नेकवारं भुंक्ते।
(तत्त्वार्थवृत्ति भास्करनन्दि कृत अ० ७, सू० ३९, पृ० १८१)

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने ॥ ४० ॥
अ० ७ (आशाधरकृत सागारधर्मावृत)।

आद्यःपात्रेऽथवाऽपाणौ भुंक्ते य उपविश्य वै ॥ ६३ ॥
अ० ८ (मेधावीकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार)।

उपविश्य चरेद्भिक्षां करपात्रेऽङ्गसंवृतः ॥ ५४६ ॥
(वामदेवकृत भावसंग्रह)।

लोचं पिच्छं च संधत्ते भुंक्तेऽसौ चोपविश्य वै ॥ २७२ ॥
(ब्रह्मनेमिदत्तकृत धर्मोपदेशपीयूषवर्ष)

लोचं पिच्छं धृत्वा भुंक्तेह्युपविश्य पाणिपुटे।
(शुभचन्द्रकृत स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका)।

यही श्लोक श्रुतसागर ने षट्प्राभृत (सुत्तपाहुड, गाथा २१) की टीका में उक्तं च रूप से लिखा है।

पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेदभुक्तिं निविष्ट-
वान् ॥ १८५ ॥ (गुणभूषणकृत श्रावकाचार)

ऊपर के इन तमाम ग्रन्थों में 'उपविश्य, समुवइट्टो, समुपविष्टः, निविष्टवान्' इन क्रियाओं से साफतौर से ऐलक के लिये बैठा रहकर भोजन करना लिखा है।

यहाँ इतनी बात और कह देना योग्य है कि ग्यारहवीं प्रतिमा का जो स्वरूप ग्रन्थों में मिलता है वह एक प्रकार से नहीं पाया जाता। इसकी संज्ञा भी एक रूप में नहीं मिलती। कहीं इसे उद्विष्टविरत, कहीं उत्कृष्टश्रावक और कहीं इस समूची ही प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहा गया है। कहीं इसके दो भेद किये हैं- १. प्रथमोत्कृष्ट और २. द्वितीयोत्कृष्ट। कहीं प्रथमोत्कृष्ट के भी दो भेद किये हैं- १. एक भिक्षा नियम और २. अनेक भिक्षा नियम। इतना सब कुछ होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं ऐलक नाम की उपलब्धि नहीं होती। ऐलक नाम की कल्पना बहुत ही पीछे की जान पड़ती है। प्रचलित में जो क्षुल्लक और ऐलक कहलाते हैं उनकी क्रम से प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट के भेदों में गणना की जा सकती है। साधारणतया क्षुल्लक और ऐलक की चर्चा में यह भेद है कि क्षुल्लक क्षौर (हजामत) कराता है, एक वस्त्र (पछेवड़ी) रखता है और पात्र में भोजन करता है। किन्तु ऐलक केशों का लौंच करता है, कोपीन मात्र वस्त्र रखता है और करपात्रभोजी है। कुछ भी हो यह तो निश्चित है कि ११ वीं प्रतिमा के किसी भी भेद प्रभेद वाले के लिए बैठे भोजन करने के सिवाय आगम में कहीं खड़े भोजन का कथन नहीं है।

सागारधर्मावृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार और गुणभूषणकृत श्रावकाचार में पहिले प्रथमोत्कृष्ट श्रावक के लिए बैठे भोजन का वर्णन करने के बाद द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक की केशलुंचन आदि उन क्रियाओं का वर्णन किया है जो प्रथमोत्कृष्ट से द्वितीयोत्कृष्ट में विशेष हैं। शेष क्रियाएँ द्वितीयोत्कृष्ट के लिए 'तद्वद्वितीयः' 'तथा द्वितीयः' 'द्वितीयोऽपि भवेदेवं' इन वाक्यों से वही रहने दी हैं जो प्रथमोत्कृष्ट के लिए कही गई थीं। वसुनन्दिश्रावकाचार में भी इसी तरह से कथन किया गया है, जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रकट है -

एवं भेओ होई णवर विसेसो कुणिज्ज णियमेण।

लोचं धरिज्ज पिच्छं भुजिज्जो पाणिपत्तमि ॥ ३११ ॥

इस गाथा में लिखा है कि ११वीं प्रतिमा में प्रथम भेद

से दूसरे भेदवाले में यही विशेषता है कि यह नियम से लौंच करता है, पीछी रखता है और पाणिपात्र में भोजन करता है और कोई विशेषता नहीं है।

जरा सोचने की बात है कि अगर ग्रन्थकारों को ऐलक के लिए खड़ा भोजन कराना अभीष्ट होता, तो उक्त विशेषताओं के साथ एक विशेषता खड़ा भोजन की भी लिख देते। किन्तु ऊपर के किसी ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिखा गया है।

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष, भावसंग्रह और स्वामीकार्तिकेया-नुप्रेक्षा की टीका में तो साक्षात् द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक (जिसे वर्तमान में ऐलक कहते हैं) को ही बैठे भोजन की आज्ञा की है। रहा चारित्रसार सो उसमें उद्दिष्टविनिवृत्त नाम की समूची ही ११वीं प्रतिमाधारी को बैठे भोजन करना प्रतिपादित किया है।

यद्यपि ऊपर लिखित प्रमाणों में बैठे भोजन का विधान करना ही खड़े भोजन का निषेध सिद्ध कर देता है, फिर भी कुछ भाई कहते हैं कि क्या हुआ अगर बैठे भोजन करना लिख दिया तो, कहीं यह तो नहीं लिखा कि 'ऐलक खड़े भोजन न करें।' ऐसे कदाग्रहियों के सन्तोष के लिए भी वैसा एक प्रमाण नीचे और दे देते हैं। जिसमें साफ खड़े भोजन का निषेध किया गया है-

क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यन्न स्थितिभोजनम् ।

आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥ १५५ ॥

टीका- क्षुल्लकेषु-सर्वोत्कृष्ट श्रावकेषु । एककं-एकं । वस्त्रं-अंबरं पटः । नान्यत्-अन्यं-द्वितीयं वस्त्रं न भवति । न स्थितिभोजनं उद्भीभूयभ्यवहारोऽपि न भवति । आतापना-दियोगोऽपि-आतापवृक्षमूलाभावकाशयोगश्च तेषां-क्षुल्लकानां शश्वत्-सर्वकालं निषिध्यते प्रतिषिध्यते ।

गुरु दासाचार्य का बनाया हुआ एक 'प्रायश्चित्त-समुच्चय' नाम का ग्रन्थ है, जिस पर श्री नन्दिगुरु ने एक

संस्कृत टीका भी लिखी है। वहीं का यह श्लोक मय टीका के है। इसमें लिखा है कि, 'क्षुल्लकों के लिये एक वस्त्र का ही विधान है दूसरे का नहीं। वे खड़े होकर भोजन भी नहीं कर सकते और उनके लिये आतापनादि योग भी सदैव निषिद्ध है।'

यह कथन क्षुल्लक के लिए है, ऐलक के लिए नहीं। श्लोक में भी साफ क्षुल्लकों के स्थिति भोजन का निषेध किया है। ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में ऐलक नाम आता ही नहीं। जिसे आज हम ऐलक कहते हैं उसे ही शास्त्रकारों ने क्षुल्लक नाम से भी लिखा है। स्वयं इसी ग्रन्थ में इसके अगले ही श्लोक में इस रहस्य को खोल दिया है। यथा-

क्षौरं कुर्याच्च लोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने ।

कौपीनमात्रतंत्रौऽसौ क्षुल्लकः परिकीर्तितः ॥ १५६ ॥

अर्थ- क्षौर कराओ चाहे लौंच, हाथ में भोजन करो चाहे पात्र में, वह कौपीनमात्र का धारी क्षुल्लक कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि यहाँ उस ऐलक को भी क्षुल्लक कहा गया है जो लौंच करता है, करपात्र में भोजन करता है और कौपीन रखता है। इसलिए इस ग्रन्थ में जिस क्षुल्लक के लिये स्थितिभोजन करना मना किया है उसे ऐलक भी समझना चाहिए।

यह कथन उस वक्त का है जबकि ११वीं प्रतिमा के २ भेद नहीं थे, एक ही था और उसे क्षुल्लक (टीका में उत्कृष्ट श्रावक) ही कहते थे। इसी से उसके एक वस्त्र ही बताया है। आज यह एक वस्त्र ऐलक के माना जाता है और क्षुल्लक के दो वस्त्र (कौपीन और उत्तरीय) माने जाते हैं।

क्रमशः.....

'जैन निबन्ध रत्नावली' (भाग २) से साभार

वीर देशना

- विवेकहीन मनुष्य को न कीर्ति, न कान्ति, न लक्ष्मी, न प्रतिष्ठा, न धर्म, न काम, न धन और न सुख कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।

An indiscreet person attains neither glory, nor lustre, nor renown, neither dharma, nor desire, neither wealth nor bless.

- प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना धर्म का स्वरूप है।

Compassion on the living beings is the essential nature of dharma.

मुनिश्री अजितसागर जी

स्वाध्याय : दुःखमुक्ति का श्रेष्ठ उपाय

ब्र. अनू जैन

भारतीय साधना-पद्धति में मन की शान्ति, चित्त की शुद्धि और निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि हेतु अनेक उपाय निर्दिष्ट हैं, उसमें एक है स्वाध्याय। आलस्य का त्याग और ज्ञान की आराधना को स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय मन की खुराक है। स्वाध्याय का हेतु पांडित्य की प्राप्ति नहीं, परिणामों की निर्मलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं, जैसे धागा सहित सुई गुमती नहीं है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान-सहित आत्मा संसार में भटकती नहीं है। स्वाध्याय से एक ओर ज्ञान की वृद्धि होती है, क्षमताओं का विकास होता है, मस्तिष्क चिन्तनशील होता है, ज्ञान के नये स्रोत खुलते हैं, ज्ञान पिपासा बढ़ती है, ज्ञान जाग्रत और जीवन्त बना रहता है, कठिन तथ्यों को समझने की क्षमता आती है, वहीं दूसरी ओर स्वाध्याय से हमें जीवन को आदर्श और ऊँचा उठाने की प्रेरणा मिलती है और वह हमारे चारित्र-निर्माण में सहायक होता है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जिसप्रकार पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है, उसीप्रकार मन को स्वच्छ और बुद्धि को प्रखर बनाने के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता होती है।

उपनिषद् में कहा गया है, 'जैसे अरणि-स्थित आग मंथन के बिना प्रकट नहीं होती, वैसे ही आत्मस्थ ज्ञानदीप, अभ्यास योग स्वाध्याय के बिना प्रज्वलित नहीं होता।' गुरुकुल में समस्त विद्या-शाखाओं को पूर्ण कर घर जाते हुए शिष्य को गुरु अन्तिम शिक्षा के रूप में कहते हैं, 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः- स्वाध्याय में प्रमाद मत करना।' श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा, 'स्वाध्याय महायज्ञ है।' जैन शास्त्रों में स्वाध्याय को अन्तरंग तप और दुःख मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय माना है। जैनमुनि की चर्या का यह अभिन्न अंग है। स्वाध्याय दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : १. सद्ग्रन्थों का अध्ययन मनन, २. आत्मनिरीक्षण या स्वप्रेक्षा।

स्वाध्याय का मनन और वाचन, ये मनुष्य को सदा जीवन्त रखते हैं। वाचन से विचारों में नवीनता आती है और मननशीलता से विचार परिष्कृत होते हैं, दृष्टि पवित्र होती है। पश्चिमी विचारक फ्रांसिस वेकन लिखते हैं, 'अध्ययन हमें आनन्द प्रदान करता है, अलंकृत करता है और क्षमता प्रदान करता है।' उपनिषद् में कहा गया, 'युवाध्यायकः' युवा वह है जो स्वाध्यायशील है।

पढ़ने और स्वाध्याय करने में मौलिक अन्तर है।

स्वाध्याय में लम्बाई-चौड़ाई का नहीं, गंभीरता का महत्व है। आचार्य श्री विद्यासागरजी अपने प्रवचनों में कहते हैं कि, 'तुमने कितना पढ़ा यह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है कि जीवन में कितना उतारा, कितना आत्मसात् किया।' इसलिए कहा है, कुछ पुस्तकें चखी जाती हैं, कुछ चबायी जाती हैं, कुछ निगल-निगलकर खायी जाती हैं और कुछ पचायी जाती हैं।

जिस अध्ययन से जीवन-दर्शन उपलब्ध हो, अन्तर-मुखता का विकास हो, अच्छे संस्कारों का जागरण हो और विचारों में प्रौढ़ता आती हो, वही स्वाध्याय के रूप में स्वीकृत है। इसके लिये रुचि का परिष्कार और उच्च कोटि के सत्त्वशील साहित्य का चुनाव अपेक्षित है। ऐसे साहित्य का गंभीर अध्ययन सामान्य से सामान्य व्यक्तित्व को नई आभा, नई गरिमा प्रदान करता है।

एक युवक ने किसी सिद्ध योगी से पूछा, 'जीवन को आनन्दित और दीप्तिमान बनाने का उपाय सुझाएँ?' योगी ने मात्र तीन शब्दों में समग्र जीवन-दर्शन उड़ेल दिया। वे शब्द हैं, 'सुविचार, सत्संगति और सत्साहित्य का वाचन।'

स्वाध्याय मस्तिष्क का रसायन है। इससे मस्तिष्क को पोषण मिलता है। उसका विकास होता है। इससे मन, बुद्धि के विकार मिटते हैं, चित्त की विकल्पशीलता समाप्त होती है। मस्तिष्क चिन्तनशील होता है। सृजनात्मकता के विकास को अवसर मिलता है, नेतृत्व के लिए क्षमता विकसित होती है, ज्ञानपिपासा बढ़ती है।

स्वाध्याय से हमारा वैचारिक-स्थल ऊँचा उठता है, गलत विचारों को सही दिशा मिलती है। स्वाध्यायी की पूरी मानसिक शक्ति उसके ज्ञानवर्द्धन और व्यक्तित्व निर्माण में ही लगती है और सामाजिक-प्रतिष्ठा बढ़ती है। अच्छी पुस्तकें वे प्रकाश-गृह हैं, जो समय-सागर के मध्य खड़े किए गए हैं।

स्वाध्याय का दूसरा एवं मौलिक अर्थ है, स्वयं को जानना, स्वयं को देखना, स्व का प्रत्यक्ष परिचय, स्वयं के अंतस् का स्पर्श। ग्रन्थों के वाचन परायण से दुनियाँ को जाना जा सकता है, विभिन्न विद्या-शाखाओं में पारगमिता प्राप्त की जा सकती है, किन्तु स्वयं को नहीं जाना जा सकता। शास्त्रीय ज्ञान से मात्र जानकारियाँ, सूचनायें एकत्रित की जा सकती हैं, पर चैतन्य के रूपान्तरण की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए कहा गया है कि पहले अपने आप को

जानो और फिर विश्व को जानने का प्रयत्न करो। एक पश्चिमी विचारक ने लिखा है, 'प्रत्येक मनुष्य अपने आपमें एक विशालकाय ग्रंथ है, यदि आप उसे पढ़ने की कला जानते हैं।' स्वयं को पढ़ने की प्रक्रिया का पहला चरण है अपने आपके सामने खड़े होकर स्वयं को, स्वयं की वृत्तियों को देखें। पूरी ईमानदारी से देखें कि मैं कहाँ हूँ? कैसा हूँ? मैं चेतना के किस स्तर पर जी रहा हूँ? और मेरे भीतर क्या है? इस प्रक्रिया के अन्तर्गत भीतर में जो भी दिखाई दे उससे डरें नहीं। देखते चले जाएँ, देखते चले जाएँ।

दूसरा चरण एकान्त स्थान में सहजतापूर्वक बैठकर वृत्तियों का दर्शन करें। कैसी भी शुभ-अशुभ प्रीतिकर-अप्रीतिकर वृत्तियाँ चेतना के पटल पर उभरें, उन्हें नकारें नहीं, सहजता से स्वीकार करें। उन वृत्तियों के भीतर बैठे

विराट चैतन्य का अनुभव करें। यही है सम्यग्दर्शन, यही है गहरी से गहरी आत्म रूपान्तरण की प्रक्रिया।

स्वाध्याय का चरम लक्ष्य स्वदर्शन तथा चित्त वृत्तियों का परिष्कार ही है। किन्तु यह बात सुनने या पढ़ने में जितनी प्रिय लगती है, उतनी सहज-सरल नहीं है। शिखर पर छलांग भरने की क्षमता हर किसी में नहीं होती। जन-सामान्य का रुझान प्रायः सहज-सरल विधि की ओर होता है। स्वाध्याय आन्तरिक रूपान्तरण की सुगम प्रविधि है। इसका आलम्बन लेकर आत्म साक्षात्कार के शिखर को भी छुआ जा सकता है।

'पुण्य वर्धनी'

मेन रोड, शहपुरा (भिटौनी), जबलपुर (म.प्र.)

सरस्वती-वरदपुत्र स्वतंत्रता संग्राम सेनानी पं. बंशीधर जी व्याकरणाचार्य का 'जन्म शताब्दी वर्ष' समारोह प्रारंभ

आज से सौ वर्ष पूर्व 3 सितम्बर १९०५ को सौरई (ललितपुर) उ०प्र० में जन्म लेने वाले पं० बंशीधर जी को अति अभावों का बचपन मिला। उन्हें पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी स्याद्वाद संस्कृत विद्यालय वाराणसी ले गए, जहाँ वे ज्ञान की देवी सरस्वतीपुत्र के रूप में विख्यात हुए। साथ ही स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर राष्ट्रीय जीवन से जुड़े। इस वर्ष ५ सितम्बर २००५ से दि० जैन मंदिर, इटावा (बीना) में आपका जन्म शताब्दी वर्ष समारोह ब्र० संदीप भैया, ब्र० शैला दीदी के सान्निध्य में मनाया गया। इसी अवसर (शिक्षक दिवस) पर पं० जानकीप्रसाद गोस्वामी को अभिनन्दन पत्र, शाल-श्रीफल एवं रुपये ११०१/- की सम्मानराशि भेंट की गई। आगत विद्वानों को शाल-श्रीफल व स्मृतिचिन्ह से सम्मानित किया गया। प्राचार्य डॉ० नेमीचंद खुरई, श्री सुदेश कोठिया इंदौर, पं० लालचन्द 'राकेश' गंजबासौदा, श्री संतोष भारती दमोह, श्री प्रेमचन्द शाह बीना, पूर्व विधायक श्री कपूरचंद घुवारा, श्री गोपालराव आचवल जी एवं युवाकवि शैलेन्द्र जैन ने पण्डित जी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व के साथ संस्मरण सुनाकर उन्हें भावभीनी श्रद्धांजली समर्पित की। समाज अध्यक्ष श्री अभयसिंघई ने पण्डित बंशीधर जी के २० वर्ष लंबे मंत्रीकाल को याद किया। ब्र० शैला दीदी ने संस्कृत में तथा ब्र० संदीप भैया जी ने हिन्दी में आपके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला। ब्र० संदीप जी ने चाचा (पं० बंशीधर जी) एवं भतीजे (डॉ० दरबारी लाल कोठिया) के वात्सल्यमयी जीवन झांकी को प्रस्तुत किया। पण्डित जी के अमूल्य कृतियों के पुनः प्रकाशन व अध्ययन करने के लिए समाज एवं उनके परिवारजनों का ध्यान आकृष्ट किया। आभार प्रदर्शन पं० दुलीचंद कोठिया एवं पण्डित जी के सुयोग्य सुपुत्र श्री विभव कोठिया (वर्तमान में समाज के मंत्री) ने किया। इस गौरवमयी समारोह का सफल संचालन जैन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् कुशल प्रवचनकार श्री पं० निहालचंद जैन बीना ने किया।

विशेष : श्री बाबूलाल जी छावड़ा लखनऊ से निवेदन किया जा रहा है कि 'जैन गजट' साप्ताहिक में पण्डित जी के प्रमुख लेखों को एक स्तम्भ के रूप में इस वर्ष प्रकाशित करके उनके कृतित्व से समाज को लाभान्वित करें। साथ ही पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य में पण्डित बंशीधर जी व्याकरणाचार्य पर एक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी भी प्रस्तावित है।

पं. निहालचंद जैन, बीना

मानवीय क्रूरता के शिकार जीव-जन्तु

डॉ. श्रीमती ज्योति जैन

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ५१-ए (छ) में कहा गया है, 'प्राकृतिक पर्यावरण की जिसके अन्तर्गत वन झील नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करें और उसका संवर्धन करें तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखें।' इसके अनुसार जिन्हें हमारे संविधान ने तथा प्रकृति ने जीने का अधिकार दिया, आज इंसान उन्हीं निरीह पशु-पक्षियों को बर्बरता और क्रूरता से अंत कर रहा है। पर्यावरण असंतुलन भी दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। जब-जब मनुष्य ने प्रकृति के विरुद्ध आचरण किया अपने स्वार्थ एवं सुख सुविधा के लिये पशु-पक्षियों का शिकार किया तब-तब प्रकृति के दुष्परिणाम भी सामने आये। यही कारण है कि सूखा, बाढ़, महामारी, भूकम्प धरती के तापमान में वृद्धि, ओजोन परत का क्षय, जैसी न जाने कितनी विभीषकाओं का सामना विश्व में प्रतिदिन कहीं न कहीं करना पड़ रहा है।

आधुनिक जीवन शैली और बढ़ते बाजारवाद ने प्रत्येक वस्तु को व्यापार बना दिया है। साँप-चीटी से लेकर शेर-बाघ तक सभी जीव जन्तु मानव को मुनाफा कमानेवाले नजर आने लगे हैं। यहाँ तक कि छिपकली जैसे जीव को पान-मसाले में पीसकर मिलाया जाने लगा है। साँप, तिलचिट्ठे, मछली, मेढ़क, खरगोश जैसे जीवों के लजीज व्यंजन और टेरो वैरायटी आज उपलब्ध हैं। स्नेक सूप सहित अनेक जीवों के सूप, भुनी चीटियों की डिश, शराबी मछली, केकड़े, इल्ली कोई भी प्राणी मनुष्य की रसना लोलुपता से नहीं बच पा रहा है। पहले तो ये सब पढ़ते ही थे पर आज जबकि टी०वी० के माध्यम से इन्हें बनाते हुए दिखाते हैं, विचार करें कितने वीभत्स दृश्य होते हैं वे। इतना ही नहीं इन खाने वाले जीवों को कृत्रिम एवं अप्राकृतिक तरीके से पैदा करने के लिये नित नये संसाधन खोज लिये गए हैं और खोजे जा रहे हैं। यही कारण है कि पूरा विश्व नित नये संक्रमणों और बीमारियों से घिरता जा रहा है।

मानव, पशु-पक्षियों तथा प्रकृति का एक संतुलन चक्र सदैव रहा है परन्तु मनुष्य ने अपने स्वाद, सौन्दर्य प्रसाधन, मनोरंजन विभिन्न रसायन, उद्योगधंधों के विभिन्न क्रूरतम प्रयोगों आदि में इन जीव-जन्तुओं को झोंक दिया है। पिछले दो सौ वर्षों में न जाने कितने जीव-जन्तुओं की

जातियाँ-प्रजातियाँ लुप्त हो गई हैं।

कुछ वन्य जीव-जन्तुओं और उनमें निहित विशेषताओं ने उन्हें इंसानी क्रूरता का शिकार बना दिया चिकित्सकों, विशेषज्ञों एवं वन्य जीवों के संरक्षण में लगी संस्थाओं आदि ने बार-बार यह बात सामने रखी कि इंसानी बीमारियों के इलाज में इन जीवों का कोई योगदान नहीं है फिर भी स्वार्थी मानव इनका अंधाधुंध विनाश कर रहा है। जिससे जीव-जन्तुओं पर संकट बरकरार बना हुआ है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में गेंडे के सींग की कीमत लाखों में है और साथ में यह अन्धविश्वास कि इसके सेवन से पौरुष बढ़ता है। कछुए के माँस और इससे बने सूप की देश-विदेश के होटल में बड़ी माँग हो रही है। धारणा है कि कछुए का सूप कमजोरी/दुर्बलता दूर कर पुरुषत्व बढ़ाता है। यौन शक्ति बढ़ाने के नाम पर सरीसृप प्रजाति के साँड को भी खूब मारा जाता है। जबकि फोरेसिक लैब की जाँच से यह अनेक बार सिद्ध किया जा चुका है कि इनमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है।

वैश्वीकरण और विश्व बाजारवाद के चलते हथियार और मादक द्रव्यों के बाद सबसे अधिक तस्करी जिन्दा या मारे गए जीव-जन्तुओं व उनके अंगों की होती है। चौकानेवाले आंकड़े बताते हैं कि लगभग तीन सौ करोड़ रुपये का सालाना कारोबार होता है। न जाने कितने जीवों को मारा जा रहा है और भारी मुनाफा कमाया जा रहा है। कुछ दिन पहले अभ्यारणों में से बाघ विलुप्त होने की खबरें सुर्खियाँ बनी थी। प्रधानमंत्री से लेकर वन्य अधिकारियों तक एक उथल-पुथल सी मच गई थी। बाघ की खाल, उसके अंग और अन्य सामग्री ने अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उसे महंगा बना दिया है। चीता एवं बाघ की कीमत लाखों में हैं। बाघों के शिकार के पीछे भी इसके शरीर के विभिन्न गुणों को बखाना जाता है। चीन, ताइवान, हांगकांग, यूरोपीय देशों और पूर्वी देशों में बाघ की हड्डियों और अन्य अंगों की बनी दवाओं को लेकर अनेक तरह के अंध विश्वास हैं। चीन में बनने वाली पारम्परिक दवाओं में बाघ की हड्डियों से लेकर उसकी चर्बी, मस्तिष्क, दाँत, मूछ, लिंग आदि का इस्तेमाल किया

जाता है। साथ ही दावा किया जाता है कि इससे अनेक बीमारियाँ, लकवा, गठिया, सूजन, नपुंसकता, पेट की बीमारियाँ आदि से छुटकारा मिल सकता है। ये दवायें खुले आम कहके बिकती हैं कुछ दवायें तो सिर्फ बाधिन के हार्मोन से ही बनती हैं।

मेंढक और उसकी टांगें, सांप, गिलहरी, बिल्ली, गिरगिट, लोमड़ी आदि की खालें भी मुनाफा देती हैं। इसी तरह कस्तूरी मृग की कीमत भी बाजार में बीस से पच्चीस लाख रुपये किलो के बीच है। कस्तूरी मृग और केंचुए को लेकर भी अनेक अंधविश्वास हैं। तितली की सुन्दरता ही उसके लिये अभिशाप बन गई। तितली से जड़ी पेंटिंग, शो पीस ड्राइंग रूम की शोभा को बढ़ा रहे हैं और तितलियों का विनाश कर रहे हैं। नरहाथी के दाँत से बने गहने व कलात्मक वस्तुओं को लकी मानकर न जाने कितने हाथियों को अनलकी बनाया जा रहा है। इसी तरह हाथी का जुलूस, झाँकी आदि में खूब उपयोग किया जा रहा है। तेज बैंडबाजे के शोर और अपार भीड़ में जब इन्सान ही तनावग्रस्त हो जाता है वहाँ जानवर कैसे नार्मल रह सकता है? आये दिन हाथी पागलपन के शिकार हो रहे हैं और मानवीय बन्दूक की गोली के शिकार भी। इस तरह ये वन्य जीव आये दिन शिकारियों के हाथ चढ़ते रहते हैं। टी०वी० अखबारों में आये दिन इनके खत्म होने के समाचार आते रहते हैं। इन्सान के वहम, अन्धविश्वास और शौक के चलते एवं ड्राइंग रूम में सजावट के लिये वन्यजीवों का अन्त क्या इसी प्रकार होता रहेगा? यह विचारणीय है।

जम्मू-कश्मीर, लद्दाख के ऊपरी क्षेत्रों में चीरू जानवर पाया जाता है। एक चीरू से महज डेढ़ सौ ग्राम ऊन मिलती है। शहतूस की शालें इसी ऊन से बनती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में शहतूस की एक शाल की कीमत आठ से दस लाख रूपये है ये वही शालें हैं जो एक अंगूठी के घेरे में से निकल जाती हैं। वन्य प्राणी संरक्षण कानून की धारा ५५ के तहत चीरू को संरक्षित घोषित किया गया है। साथ ही १९७७ के पहले शहतूस की शालें जिनके पास हों उन्हें पंजीकरण कराना जरूरी है। इसकी शाल रखना जुर्म है एवं सजा का प्रावधान भी है। इनता मंहगा ऊन देने वाला यह जीव अपने अस्तित्व को कैसे बचा पा रहा होगा?

समाचार पत्रों एवं मीडिया के माध्यम से ही हम सब

देखते हैं कि पशु-पक्षियों के प्रति कितनी, क्रूरता बढ़ती जा रही है। गाय को जब मेडकाउ संक्रमण ने घेर लिया तो ब्रिटेन आदि देशों में लाखों की संख्या में गायों को मौत के घाट उतार दिया गया। मुंह व खुर के रोगों के चलते चौपाये पशुओं को आये दिन मार दिया जाता है। सुरक्षित माँस के चुनाव में इंसान की नजर जिस भी जीव-जन्तु पर पड़ी उसी पर कहर बरस जाता है। शूतुरमुर्ग की शुरुआत हुई तो जल्दी से वह भी संक्रमण में आ गया। मुर्गों, बतखों में जब बर्डफ्लू का वायरस फैला तो पूरी दुनिया में तहलका मच गया और इन्हें भी लाखों की संख्या में बेमौत मारा गया। पशु पक्षी के माँस का व्यापार बनना ही उसकी बेमौत है। व्यवसायीकरण के चलते उन्हें असामान्य ढंग से विकसित करना, पैदा करना और अधिक से अधिक उनकी संख्या बढ़ाना, ये ही सब विभिन्न संक्रमणों वायरस के कारण बनते हैं, यही कारण है कि अनेक गंभीर बीमारियाँ मानव को चुनौती दे रही हैं। यह स्वाभाविक है कि जब इंसान अपना भोजन छोड़ माँसाहारी बनेगा तो पशु पक्षी जन्म बीमारियों से कैसे बच पाएगा?

सौंदर्य प्रसाधनों व अनुसंधानों के नाम पर भी जीव-जन्तुओं पर कहर ढाया गया है। सौंदर्य प्रसाधनों में प्रयुक्त एस्ट्रोजिन, कार्टिजोन, मिंक आइल, प्लेसेटा, इलास्टिन, एमीलेस एम्बरग्रीस, कार्माइल, कार्मिनिन एसिड, फिश लिक्वर आयल लेनोलीन आदि सभी रसायन पशु उत्पाद हैं जिनका प्रसाधनों में प्रयोग होता है। इन सब रसायनों का उपयोग शैम्पू, रूज, परफ्यूम, आफ्टर शेव आदि में किया जाता है। इनके उपयोग के पहले शिकार बनते हैं खरगोश, बंदर, गिलहरी आदि। लाखों साल से प्रकृति के अनगिनत थपेड़े खाकर भी अपना जीवन बचाये रखने वाले ये जीव-जन्तु इंसान से कब तक बच पायेंगे यह उनके लिये एक चुनौती है ?

वन्य जीवन मानवीय हिंसा के शिकार तो हो ही रहे हैं आधुनिकीकरण के चलते भी इन पर संकट छाया हुआ है। जहरीले रसायन, प्रदूषण एवं वनों की अंधाधुंध कटाई आदि विविध कारणों से अनेक जीव-जन्तु खतरे में हैं। जल-थल-नभ सभी में रहने वाले जीव जन्तु अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। प्रकृति के सभी जीव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे से जुड़े हैं। यदि एक का संतुलन बिगड़ा तो अनेक संतुलन बिगड़ जाते हैं। विश्व संरक्षण संगठन (वर्ल्ड कंजरर्वेशन युनियन) ने भी वन विभाग प्रदूषण,

शिकार एवं जहरीले रसायनों से जीवों पर आये संकट पर अपनी चिन्ता जताई है।

कहने को तो देश में वन्य जीव संरक्षण कानून है, सरकार इनकी सुरक्षा के लिये अनेक कदम समय-समय पर उठाती है। अनेक अभ्यारण्य भी बना दिए गए हैं। जानवरों के शिकार और उनके अवैध व्यापार को रोकने के लिए राज्य सरकार और केन्द्र सरकार अपने-अपने स्तर पर प्रयास करती हैं। अनेक स्वयंसेवी संस्थायें और पर्यावरण रक्षक एवं वन्य जीव जन्तु प्रेमी भी अपने-अपने प्रयासों से इनकी रक्षा के प्रयास करते हैं। परन्तु जब अभ्यारण्य ही, जो जीवों के पनाहगाह हैं वे ही विनाशगाह साबित हो रहे हैं तब वन्य जीवों की सुरक्षा के लिये और भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। अवैध शिकार आदि को रोकने में कठोर दण्ड का प्रावधान बनाना होगा। यद्यपि व्यवस्था है पर पर्याप्त नहीं। वन्य जीवों के संरक्षण को जन जाग्रति एवं व्यापक प्रचार-प्रसार की भी आवश्यकता है।

आज आधुनिकता के नाम पर विवेक रखनेवालों की कमी आती जा रही है। नान वेजीटेरियन होटल, पार्लर, मोटल, हट आदि तेजी से खुलते जा रहे हैं। माँस निर्यात की नित नई कम्पनियाँ खुल रही हैं। नानवेज का इतना उपयोग बढ़ता जा रहा है कि वैज वस्तुयें भी शक के दायरे में आती जा रही हैं। आशा की एक किरण के रूप में शाकाहारी संगठन काम तो कर रहे हैं, पर आवश्यकता है कि जीव संरक्षण कानून को बल मिले। साथ ही स्वयंसेवी संगठन भी जागरूक बने और प्रचार-प्रसार में भागी बने। सामान्य जनता प्रकृति की इस अनमोल धरोहर, जीव जन्तुओं को अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति से बचा सकें। भारतीय संस्कृति की अहिंसा, दया, करुणा की भावना को हम अगली पीढ़ी तक पहुँचा सकें।

शिक्षक आवास,
कुंद कुंद जैन महाविद्यालय परिसर,
खतौली-२५१२०१ (३०७०)

भगवान् अभिनन्दननाथ जी

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र संबंधी अयोध्या नगरी में स्वयंवर नाम के राजा राज्य करते थे। सिद्धार्थ नाम की उनकी पटरानी थी। माघ शुक्ल द्वादशी के दिन उस महारानी ने विजय नामक अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र को तीर्थकर सुत के रूप में जन्म दिया। श्री संभवनाथ तीर्थकर के बाद दस लाख करोड़ सागर वर्ष का अन्तराल बीत जाने पर अभिनन्दननाथ स्वामी अवतीर्ण हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी। पचास लाख पूर्व उनकी आयु थी, साढ़े तीन सौ धनुष ऊँचा शरीर था। उनकी कान्ति सुवर्ण के समान देदीप्यमान थी। कुमार अवस्था के जब साढ़े बारह लाख पूर्व वर्ष बीत गये तब 'इन्हें राज्य पद प्रदान कर इनके पिता वन को चले गये। अभिनन्दन स्वामी के राज्यकाल के जब साढ़े छत्तीस लाख पूर्व बीत गये और आयु के आठ पूर्वांग शेष रहे तब एक दिन विघटते हुए मेघों की शोभा देखकर उन्हें आत्मज्ञान प्रकट हो गया। जिससे विरक्त होकर माघ शुक्ल द्वादशी के दिन अग्र उद्यान में पहुँचकर शाम के समय बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। पारणा के दिन उन्होंने अयोध्या नगरी में प्रवेश किया। वहाँ इन्द्रदत्त राजा ने आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। इस तरह छद्मस्थ अवस्था के अठारह वर्ष बीत जाने पर वे एक दिन उसी दीक्षावन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए। पौष शुक्ल चतुर्दशी के दिन शाम के समय घातिया कर्म के नष्ट हो जाने पर उन्हें केवलज्ञान प्रकट हुआ। भगवान् के समवशरण की रचना हुई। उनके समवशरण में तीन लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यच थे। समस्त आर्य देशों में विहार कर धर्मोपदेश देते हुए वे भगवान् सम्मेशिखर पर जा पहुँचे। वहाँ एक माह का योग निरोध कर उन्होंने वैशाख शुक्ल षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया।

'शलाका पुरुष' (मुनि श्री समतासागर जी) से साभार

२० वीं सदी के प्रथमाचार्य प.पू.चा.च. १०८ श्री शांतिसागर महाराज का शासनदेवता-उपासना के बारे में मत : एक प्रमाण

प्रा. सौ. लीलावती जैन

महाराष्ट्र में सोलापुर से एक मराठी मासिक पत्रिका 'सम्यक्त्व वर्धक' नाम से निकलती थी। सम्पादक और प्रकाशक : हीराचंद मलुकचंद दोशी (काका) सोलापुर थे। १९२३ ई.सं. में आरंभ हुई इस पत्रिका का १ दिसम्बर अंक ४, पृष्ठ १३ पर छपा एक समाचार एक धर्मबंधु ने भेजा है वह प.पू. आ. शांतिसागरजी के शासन देवताओं की उपासना के बारे में क्या विचार थे इस पर स्पष्ट प्रकाश डालने वाला है। उसका हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत करने से पहले हम दि. जैन समाज को कहना चाहते हैं कि कुछ आचार्य, मुनिगण, तथा विद्वान् पू.आ. शांतिसागर जी का नाम लेकर यह कहते आये हैं कि पू. आचार्यश्री शासन देवता की उपासना मान्य करते थे। अतः शासन देवताओं को पूजना चाहिये। हमने अनेक बार यह लिखा है कि जिन्होंने मिथ्यात्व के विरोध में इतना बड़ा कार्य किया तो वे शासन देवताओं की पूजा को किस प्रकार मान सकते हैं? चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ में इस प्रकार के संकेत प्रसंगवश आये भी हैं, उन प्रसंगों को भी हमने प्रकाशित किया है। किसी पंडित ने जब पू. आचार्यश्री से देवताओं को प्रसन्न करने की सलाह दी तब भी आचार्यश्री ने कहा था कि 'असंयमियों की उपासना कैसे कर सकते हैं? आप कैसे पंडित हैं?'

हमारे मत में काल मान के प्रभाव से उस काल में मिथ्यात्व बहुत फैल गया था। शुद्ध धर्म को मानना देशभर में बहुत कम प्रमाण में बचा था। इन कठिन परिस्थितियों में पू. आचार्यश्री ने धैर्यपूर्वक मिथ्यात्व पर जो कुठाराघात किये, वे भुलाकर आज भी कुछ लोग अपनी विचारधारा उनके नाम पर थोपकर अपनी प्रवृत्ति चला रहे हैं और अपनी परंपरा विस्तृत करना चाहते हैं। ऐसे अवसरवादी लोगों को पू. आचार्यश्री की जयजयकार करने का क्या अधिकार है? यह मिथ्यात्व फैलाने का कितना गलत काम आज वे कर रहे हैं, इसका विचार होना जरूरी है। लीजिए, उक्त मराठी समाचार का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है-

श्री मुनि शांतिसागरजी का केशलौच मुकाम-शेडबाल-यहाँ मँगसर शुक्ला ८ के दिन मुनि शांतिसागरजी का केशलौच बड़े समारोह के साथ हुआ। उस समय उस गाँव के और बाहरगाँव के मिलकर तीन/चार हजार दि. जैन एकत्रित हुए

थे। जैन समाज से मिथ्यात्व निकालने का और निर्माल्य का त्याग करने का उपदेश मुनिराज हमेशा देते हैं। गत चातुर्मास में कोन्नुर में दिए उपदेश से करीबन दो हजार जैनियों ने अपने घर से खंडोबा, विठोबा, भवानी, यल्लम्मा आदि मिथ्या देवताओं को निकाल दिया है। करीब १५/१६ उपाध्ये (पुजारी) लोगों ने निर्माल्य का नहीं खायेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा ली है। आज तक दस हजार जैनियों ने अपने घर से मिथ्या देवताओं को निकाला होगा। महाराज ने ऐसा कहा, करीबन २००/४०० लोगों ने क्षेत्रपाल - पद्मावती आदि शासन देवताओं की उपासना नहीं करेंगे ऐसी प्रतिज्ञा उनका उपदेश सुनकर ली है, ऐसा उन्होंने (आचार्यश्री ने) कहा। इससे लगता है कि उनके उपदेश से मिथ्यात्व बिलकुल समाप्त हो जाएगा और (उपाध्ये) पुजारी निर्माल्य खाना बंद कर देंगे ऐसी बलवती आशा निर्माण हो गई है।

यह प्रमाण अपने आप में बिलकुल स्पष्ट है कि जैन दि. समाज को इन प्रमाणों से बोध लेना चाहिये। जो दि. जैन मुनि विद्वान् आ. शांतिसागरजी को मानते तो हैं परन्तु उनके आदेशों को नहीं मानते, उल्टे स्वयं शासनदेवताओं की उपासना करते हैं, उनके पूजा-विधान करवाते हैं। मिथ्यात्व तो फैलाते ही हैं और कहते हैं कि आ. शांतिसागरजी शासन देवताओं की उपासना करते थे। वे पू. आचार्यश्री का अविनय ही करते हैं। जैन समाज को चाहिये कि वह आचार्यश्री के आदेशों पर चलें और अपप्रवृत्तियों से बचें। दूसरा प्रमाण विजातीय विवाह के बारे में, पत्रिका 'जैनमित्र' पौषसुदी ५ वीर सं. २४६४, ६ जनवरी, १९३८ अंक ९ वाँ, 'आचार्य शांतिसागरजी और विजातीय विवाह।'

पं. सुमेरचंदजी दिवाकर न्यायतीर्थ वकील ने आ. शांतिसागरजी से पूछा कि, 'क्या यह सच है कि आप आहार के पूर्व गृहस्थ से प्रतिज्ञा कराते हैं कि विजातीय विवाह आगम विरुद्ध है? ऐसी जो प्रतिज्ञा नहीं लेता वहाँ आप आहार नहीं लेते?' इसके उत्तर में महाराज ने कहा है कि, 'आहार दाता के यहाँ उपरोक्त प्रतिबंध की बात मिथ्या है।' आचार्य शांतिसागरजी महाराज का स्पष्ट मन्तव्य है कि साधु को एक बार आहारविधि न मिलने पर फिर उसी दिन दूसरी बार आहारार्थ नहीं निकलना चाहिए।

उक्त दोनों समाचार के प्रमाण हमारे पास हैं जो कोई मँगवाना चाहे हम फोटो कॉपी भेज सकते हैं। शासन देवताओं की उपासना के सभी समर्थकों से हमारा यह विनम्र निवेदन है कि ऐसे पुख्ता प्रमाण देखकर वे आ. शांतिसागरजी के

बारे में गलत प्रचार करने के अपने रवैये में तबदीली करें। उन्हें जो करना है करें, पर आचार्यश्री को बदनाम कर न करें, यही प्रार्थना है।

संपादिका- 'धर्ममंगल'

हाथ जोड़कर अभिवादन करें

डॉ. (कु.) आराधना जैन स्वतंत्र

जब भी हम अपने किसी परिचित, अधिकारी या आगन्तुक से मिलते हैं तो हर्षित हो हाथ जोड़कर उसका भी अभिवादन करते हैं। हमारा यह अभिवादन करना शिष्टाचार का सूचक तो है ही, हमारी विनय का प्रतीक है। यह सामने वाले के प्रति खुशी, सम्मान और मित्रता को भी द्योतक करता है। वर्तमान में हाथ जोड़कर अभिवादन करने की परम्परा लुप्त होती जा रही है। उसका स्थान हाथ मिलाने और हाथ-हलो ने ले लिया है।

यदि हाथ मिलाकर अभिवादन किया जाता है तो अभिवादन सामने वाले की ओर हाथ बढ़ाता है। ऐसी स्थिति में उसके हाथ का अंगूठा सामने वाले व्यक्ति की ओर होता है अर्थात् वह उसे अंगूठा दिखाता है। अंगूठा तो बच्चे खेल खेल में हारने वाले के प्रति दिखाते हैं और उसे चिढ़ाते हैं। अभिवादन में हाथ बढ़ाकर अंगूठा दिखाने से सामने वाले का अपमान होता है, सम्मान नहीं। एक बात और है - जब दो व्यक्ति हाथ मिलाते हैं तो उनके हाथों के मिलने से कैची द्योतक बनती है। कैची का काम काटने का है जोड़ने का नहीं। अतः अभिवादन में कैची के प्रतिरूप का, हाथ मिलाना अनुचित है। यह भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है। हाथ मिलाने समय हाथ वक्षस्थल के नीचे ही रहते हैं। हाथ नीचे रहने से ऊर्जा अधोगामी होती है अतः ऊर्जा का हास होता है। हाथ मिलाकर अभिवादन मात्र बराबरी वालों में ही होता है, अतएव छोटे-बड़े हाथ मिलाकर अभिवादन नहीं कर सकते। विपरीत लिंग वालों में अभिवादन का यह तरीका भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं है।

इसी तरह हाथ-हलो द्वारा अभिवादन करने की पद्धति भी अनुचित है। कारण 'हाथ' शब्द दुःख, मातम, शोक का सूचक है। प्रतिकूलता, आपत्ति या इष्ट वियोग में मुख से 'हाथ' सहज ही निकल जाता है। दुःख सूचक शब्द 'हाथ' से अभिवादन हो ही नहीं सकता। यह 'हाथ' अभिवादन का मजाक उड़ाता है। अतः यह सम्मान/आदरभाव को अभिव्यक्त करने की श्रेष्ठ पद्धति नहीं हो सकती।

भारतीय संस्कृति तथा अन्य संस्कृतियों में अभिवादन की पद्धतियाँ देखें और तुलना करें तो ज्ञात होता है कि हमारी संस्कृति की हाथ जोड़कर अभिवादन की पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। एक कवि ने कहा है-

चार मिले चौसठ खिले, मिले बीस कर जोड़।

सज्जन से सज्जन मिले, हर्षित सात करोड़ ॥

जब भी हम किसी परिचित (साधर्मी) से मिलते हैं तो हमारे दोनों नेत्र साधर्मी के दोनों नेत्रों से मिलकर चार होते हैं। अनायास ही हमारे होठों पर मुस्कराहट आ जाती है। मुस्कराने पर स्वयं के ३२ दाँत तथा सामने वाले के ३२ दाँत इस तरह कुल ६४ दाँत दिखने लगते हैं। अर्थात् खिल जाते हैं। दोनों हाथों को श्रीफलाकार जोड़ने पर दस अंगुलियाँ हमारी और साधर्मी की दस अंगुलियाँ मिलकर बीस हो जाती हैं। एक मनुष्य के शरीर में रोमों की संख्या साढ़े तीन करोड़ है। अभिवादन करने वाले दोनों व्यक्तियों के शरीर के कुल सात करोड़ रोम रोमांचित हो जाते हैं अर्थात् सारे शरीर में रोमांच उत्पन्न हो जाता है। यह रोमांच अंतस के हर्ष का सूचक है।

जब हाथ जोड़कर अभिवादन किया जाता है तो हाथ वक्षस्थल के श्रीवत्स चिन्ह पर रहता है। दोनों हाथों की अंगुलियाँ आकाश की ओर होती हैं। परिणाम स्वरूप ऊर्जा उर्ध्वगामी बनती है, ऊर्जा का हास नहीं हो पाता। शरीर विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र के अनुसार हाथ जोड़कर अभिवादन करने से सुषुम्ना नाड़ी सक्रिय रहती है। सूर्य स्वर और चन्द्र स्वर दोनों समान चलते हैं। यह अच्छे स्वास्थ्य का लक्षण है।

सभी संस्कृतियों की अभिवादन पद्धतियों में भारतीय संस्कृति की हाथ जोड़कर अभिवादन करने की पद्धति सर्वोत्तम है। इसमें सम्मान-आदर-हर्ष और उत्तम स्वास्थ्य के जो रहस्य गर्भित हैं वे अन्य अभिवादन प्रक्रिया में नहीं। अतएव हाथ जोड़कर ही अभिवादन करें।

भगवान् महावीर मार्ग
गंजबासौदा (म.प्र.)

कुछ प्रेरक प्रसंग

डॉ. श्रीमती वन्दना जैन

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत तुकाराम के घर एक दिन खाने को कुछ नहीं था। वे अपने खेत से गन्ने का भार उठाकर ला रहे थे। रास्ते में लौटते-बांटते केवल एक गन्ना लेकर घर पहुंचे। इससे उनकी पत्नी क्रोधित हो गई। तुकाराम के घर आते ही उसने गन्ना हाथ में ले लिया और उनकी पीठ पर जोर-जोर से मारना शुरू कर दिया। गन्ने के फौरन दो टुकड़े हो गये। तुकाराम ने शांति से कहा, अपन दोनों को खाने के लिए दो भाग मुझे करना पड़ते, तुमने मेरा काम हल्का कर दिया। क्षमा से क्रोध को जीतने के इस सुंदर प्रयोग से पत्नी का मन बिल्कुल शीतल हो गया। संत तुकाराम की तरह जिनके पास क्षमा का पानी होता है, वे उस आग को बुझाने में सफल होते हैं।

क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल को जिस दिन फांसी लगनी थी, उस दिन भी वे रोज की भांति सबेरे उठकर व्यायाम कर रहे थे। जेल अधीक्षक ने पूछा, 'आज तो आपको एक घंटे बाद फांसी लगने वाली है, फिर व्यायाम करने से लाभ?' बिस्मिल ने जेल अधीक्षक को उत्तर दिया, 'जीवन आदर्शों और नियमों में बंधा हुआ है, जब तक शरीर में सांस चलती है, तब तक व्यवस्था में अंतर आने देना उचित नहीं है। नियम पालन एक ऐसा गुण है, जिसका त्याग प्राण जाने जैसी स्थिति आने पर भी नहीं करना चाहिए। थोड़ी सी अड़चन सामने आ जाने पर जो लोग अपनी दिनचर्या और कार्यव्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देते हैं, वे कभी अपने मिशन में सफल नहीं होते।' बिस्मिल की बात सुनकर जेल अधिकारी आश्चर्य में पड़ गया।

संत एकनाथ के गुरु श्री जनार्दन स्वामी ने हिसाब-किताब का काम एकनाथ को सौंप रखा था। गुरु सेवा जानकर एकनाथ निष्ठापूर्वक काम में लगे रहते थे, ऐसे ही एक दिन वे हिसाब-किताब मिला रहे थे, पर बार-बार कोशिश करने पर भी एक पाई का हिसाब नहीं मिला। अर्द्धरात्रि में जनार्दन स्वामी की नींद खुली, तो पाया कि एकनाथ अपने बिस्तर पर नहीं हैं। दूसरे कमरे में दीये की रोशनी में हिसाब करने में लीन हैं। संयोग से एकनाथ को

तभी हिसाब मिल गया। संत एकनाथ की खुशी का पारावार नहीं था। खुशी में वे ताली बजाकर आनंदित होने लगे। तब गुरुदेव बोले-एक पाई की भूल मिलने पर जब तुम इतने प्रसन्न हो रहे हो तो इस संसार में मनुष्य न जाने कितनी भूलें करता रहता है, अगर वह भी इन भूलों को ठीक कर ले, तो उनके जीवन में न जाने कितना हर्ष होगा। संत एकनाथ ने गुरु के ये शब्द सुने, उन्हें मानो आत्मज्ञान की कुंजी मिल गई।

एक ऋषि के पास एक युवक ज्ञान प्राप्ति के लिए पहुंचा। ज्ञान प्राप्ति के बाद शिष्य ने गुरु दक्षिणा देनी चाही। गुरु दक्षिणा के रूप में वह चीज मांगी जो बिल्कुल व्यर्थ हो। शिष्य व्यर्थ चीज की खोज में निकल पड़ा। उसने मिट्टी की ओर हाथ बढ़ाया तो मिट्टी बोल पड़ी, तुम मुझे व्यर्थ समझ रहे हो? क्या तुम्हें पता नहीं है कि इस दुनिया का सारा वैभव ही गर्भ से प्रकट होता है। ये विविध वनस्पतियाँ ये रूप-रस और गंध सब कहाँ से आते हैं। शिष्य आगे बढ़ गया। थोड़ी दूर पर उसे एक पत्थर मिला शिष्य ने सोचा, इसे ही ले चलूँ। लेकिन जैसे ही उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाया तो पत्थर से आवाज आई, तुम इतने ज्ञानी होकर भी मुझे बेकार मान रहे हो। तुम अपने भवन और अट्टालिकाएँ किससे बनाते हो? तुम्हारे मंदिरों में किसे गढ़कर देव प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। मेरे इतने उपयोग के बाद भी तुम मुझे व्यर्थ मान रहे हो? यह सुनकर शिष्य ने फिर अपना हाथ खींच लिया। वह सोचने लगा, जब मिट्टी और पत्थर इतने उपयोगी हैं। तो आखिर व्यर्थ क्या हो सकता है? उसके मन से आवाज आई कि सृष्टि का हर पदार्थ अपने आपमें उपयोगी है। वस्तुतः व्यर्थ और तुच्छ वह है, जो दूसरों को व्यर्थ और तुच्छ समझता है। व्यक्ति के भीतर का अहंकार ही एक ऐसा तत्व है, जिसका कहीं उपयोग नहीं। वह गुरु के पास लौट गया और उनके पैरों में गिर पड़ा वह दक्षिणा में अपना अहंकार देने आया था।

ए-5 प्रोफेसर कॉलोनी, आगर मालवा पिन 465441

आपका स्वास्थ्य आपके हाथ

ब्रह्मचारी अरुण

१. प्रातःकाल नींद खुलते ही अपनी दोनों हथेलियों को मिलाकर अंगुलियों में २४ तीर्थकर भगवान् का ध्यान करें, एवं सिद्ध परमेष्ठी भगवान् को याद करें। दोनों हाथों को आपस में घर्षण करके चेहरे का स्पर्श करें, सम्पूर्ण त्वचा का स्पर्श करें एवं जिस किसी भाग में दर्द हो उसे, हाथों को पुनः घर्षण कर, ३-४ बार स्पर्श करें। कुछ दिनों के प्रयोग से दर्द ठीक होगा। पैर के पंजे को आपस में घर्षण करें। हाथ पैर का घर्षण व स्पर्श करने से बहुत सी ऊर्जा जो शरीर से बाहर जाती है, शरीर को प्राप्त हो जाती है।

२. मुद्रा विज्ञान : दोनों हाथों के अंगूठे एवं प्रथम अंगुली के अनुभाग का स्पर्श करके कुछ देर रखने से मस्तिष्क में पिच्युटरी ग्रंथि सक्रिय हो जाती है। जिससे सिर दर्द, तनाव याददाशत कम होना जैसी बीमारी में लाभ प्राप्त होता है व बुद्धि का विकास होता है।

३. हाथों की प्रथम अंगुली के अग्रभाग को अंगूठे की अंतिम रेखा से लगायें एवं अंगूठे के अग्रभाग को द्वितीय व तृतीय अंगुली के अग्रभाग से स्पर्श करने से हृदय मुद्रा बनती है, जो कि हृदय संबंधी बीमारियों से सुरक्षा करती है। इस मुद्रा से ऊर्ध्व वायु में भी लाभ मिलता है। दिल का दौरा रोकने में यह इंजेक्शन की तरह काम करता है नियमित अभ्यास से हृदय रोग ठीक हो सकता है।

४. हृदय मुद्रा के साथ उच्च रक्त दाब की स्थिति में 'ॐ शांति' मंत्र का उच्चारण ४-५ मिनट सुबह-शाम कुछ दिन लगातार करने से लाभ मिलता है।

५. निम्न रक्त दाब की स्थिति में 'ॐ' मंत्र का उच्चारण मात्र ३-४ मिनट सुबह शाम कुछ दिन करने से लाभ प्राप्त होगा।

६. भोजन के बाद १०-१५ मिनट वज्रासन में बैठने पर गैस्ट्रिक, कब्ज व पाचन तंत्र की बीमारियों में लाभ प्राप्त होता है व शरीर स्वस्थ रहता है।

७. अपने दाहिने हाथ के पंजे से ८ अंगुल छोड़कर प्रातः काल १ मिनट दूसरे हाथ के अंगूठे से दबाने से जीवनी शक्ति बढ़ती है। शरीर में जल्दी बुढ़ापे के लक्षण प्रकट नहीं होते हैं।

८. अपने दाहिने हाथ से बाएँ पैर के पंजे एवं बाएँ हाथ से दाहिने पैर के पंजे की मालिश करने से शरीर के रोग निकल जाते हैं व घुटने, कमर दर्द में भी आराम मिलता है।

तेल की मालिश यदि शनिवार को की जाये तो अत्यधिक लाभ प्राप्त होता है।

९. भोजन के बाद हाथों को धोकर आपस में रगड़कर आँखों का स्पर्श ६-७ बार करने से नेत्र ज्योति बढ़ती है एवं आँखों की बीमारी से बचाव होता है।

१०. वज्रासन में बैठकर सिर में हाथ फेरने या बालों की कंधी करने से बाल जल्दी सफेद नहीं होते हैं। याददाशत भी बढ़ती है।

११. बालों को नींबू पानी या आँवला पानी से धोने पर बाल मुलायम व काले रहते हैं। बालों का झड़ना बंद होकर बाल घने व चमकदार होते हैं।

१२. शौच व लघु शंका के समय दाँतों को बंद रखने से व मौन रहने से दाँतों संबंधी बीमारियों से सुरक्षा होती है।

१३. लघुशंका से निवृत्त होने के बाद पानी पीने से घुटने, कमर दर्द, जोड़ के दर्द में लाभ मिलता है अथवा जोड़ का दर्द आता ही नहीं है।

१४. शौच से आने के बाद एवं वमन के तुरंत बाद पानी नहीं पीना चाहिये अन्यथा आँतों में सूजन आती है।

१५. दिन में प्रमाद, आलस्य नींद कम करने एवं पाचन तंत्र ठीक रखने के लिये भोजन के बाद ८ श्वासोच्छ्वास बाँयी करवट, १६ श्वासोच्छ्वास सीधे लेटना व ३२ श्वासोच्छ्वास दाँयी करवट लेटना चाहिये।

१६. कब्ज, गैस्ट्रिक, अजीर्ण जैसी बीमारी ठीक करने के लिए दाहिने स्वर के चलते हुए भोजन करें व भोजन के १ घंटे बाद तक दाहिना स्वर चालू रखें।

१७. पैर की एड़ी को पत्थर पर रगड़कर साफ करने से कब्ज की बीमारी ठीक होती है।

१८. पैर के तलवे स्वच्छ रहने से यशकीर्ति में वृद्धि होती है व स्वस्थता प्राप्त होती है।

१९. खाली पेट पानी पीने से शरीर का वजन कम होता है। भोजन के बीच में व अंत में ज्यादा पानी पीने से पाचन तंत्र कमजोर होता है। भोजन के १ घंटे बाद पानी पीने से पौष्टिक होता है।

२०. शीत ऋतु में हरे वृक्षों पर पड़ने वाली ओस को सफेद सूती कपड़े में सोखकर चेहरा पोंछने से चेहरे की फुंसियाँ दाग ठीक होकर चेहरा गुलाब फूल जैसा खिल जाएगा।

कटंगी (म.प्र.)

नवम्बर २००५ जिनभाषित २५

जिज्ञासा – समाधान

पं. रतनलाल बैनाड़ा

प्रश्नकर्ता : पं. बसन्तकुमार जी शास्त्री, शिवाड़ (राज.)

जिज्ञासा : सासादन गुणस्थान को पारिणामिक भाव किस प्रकार बताया है ?

समाधान : जीवकाण्ड गाथा ११ में इस प्रकार कहा गया है :

मिच्छे खलु ओदइओ विदिए पुण पारिणामिओ भावो ।

मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मम्मि तिण्णेव ॥ ११ ॥

अर्थ : मिथ्यात्व गुणस्थान में नियम से औदयिक भाव होता है, पुनः द्वितीय सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव, मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों भाव संभव हैं ।

यहाँ पर सासादन को पारिणामिक भाव कहने में मुख्यता इस बात की है कि आदि के चार गुणस्थान संबंधी भावों की प्ररूपणा में दर्शनमोहनीय कर्म के अतिरिक्त शेष कर्मों की विवक्षा का अभाव है। यह सासादन गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म के उदय-उपशम-क्षय अथवा क्षयोपशम से नहीं होता है। अर्थात् सासादन गुणस्थान होने में दर्शनमोहनीय कर्म किसी रूप में भी कारण नहीं है। इसलिए इसको पारिणामिक भाव कहा गया है।

श्री धवला पुस्तक - ७, पृष्ठ - १०९ पर यह प्रश्न उठाया गया है कि अनन्तानुबंधी कषायों के उदय से सासादन गुणस्थान पाया जाता है। अतः उसे औदयिक भाव क्यों नहीं कहते? उत्तर : नहीं कहते। क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम व क्षय व क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होने से सासादन गुणस्थान का कारण चारित्रमोहनीय कर्म ही हो सकता है। और चारित्रमोहनीय के दर्शनमोहनीय मानने में विरोध आता है। पुनः प्रश्न : अनन्तानुबंधी तो दर्शन और चारित्र दोनों में मोह उत्पन्न करने वाला है? उत्तर : भले ही वह मोहनीय हो, किन्तु यहाँ वैसी विवक्षा नहीं है। अनन्तानुबंधी चारित्रमोहनीय ही है, इसी विवक्षा से सासादन गुणस्थान को पारिणामिक भाव कहा है।

लेकिन गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा, १२ की टीका में यह भी कहा गया है कि अनन्तानुबंधी चतुष्टय में से किसी एक के उदय होने की अपेक्षा ली जाये, तो सासादन गुणस्थान औदयिक भाव भी होता है। (परन्तु पहले चार गुणस्थानों में चारित्रमोहनीय की अपेक्षा न होने से दूसरा गुणस्थान पारिणामिक भाव ही माना जाता है)

जिज्ञासा : मारणान्तिक समुद्घात क्या है और वह किस जीव को होता है?

समाधान : आयु समाप्ति के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में, मूल शरीर को न छोड़कर, जहाँ अगला जन्म धारण करना हो, उस स्थान को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना मारणान्तिक समुद्घात है।

यह समुद्घात सभी जीवों के नहीं होता। जीवकाण्ड गाथा ५४४ की टीका के अनुसार प्रतिसमय मरण को प्राप्त होने वाले अधिकांश जीवों को मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता है। यह समुद्घात ऋजुगति तथा मोड़े वाली गति दोनों प्रकार की गति वाले संसारी जीवों के मात्र विग्रहगति में होता है। तीसरे गुणस्थान को छोड़कर (क्योंकि इस गुणस्थान में मरण नहीं होता है) प्रथम गुणस्थान से ११वें गुणस्थान तक सभी गुणस्थान और सभी गति वाले जीवों के इसका होना संभव है। इस समुद्घात में जीव के आत्मप्रदेश, अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुए, अगला जन्म जहाँ लेना हो, उस स्थान तक जाते हैं और स्पर्श करके लौट आते हैं। ऐसी प्रक्रिया अगले भव की आयु के सत्ता में रहने के कारण संभव होती है। इतना विशेष है कि कथंचित् आत्मप्रदेशों के लौटकर आने से पूर्व भी मरण संभव है।

जिज्ञासा : मनुष्यनी के कितने गुणस्थान संभव हैं?

समाधान : आगम में गति मार्गणा का वर्णन करते हुए मनुष्यों के संबंध में तीन शब्दों का प्रयोग देखा जाता है :

१. मनुष्य : यह मनुष्य सामान्य के लिए अथवा भावपुरुष वेदी, भाव नपुंसकवेदी, के लिए प्रयोग किया गया है।

२. मनुष्यनी : इस शब्द का प्रयोग अधिकांशतः द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्रीवेदी मनुष्य के लिए किया गया है। गौणता से कहीं-कहीं पर द्रव्यस्त्री के अर्थ में भी किया गया है।

३. योनिमति मनुष्य : इस शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री के लिए किया गया है।

उपरोक्त तीनों प्रयोगों को समझ लेने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य एवं मनुष्यनी शब्द द्रव्यपुरुष अथवा नपुंसक के लिए प्रयोग किये गये हैं। तथा योनिमति मनुष्य शब्द स्पष्ट रूप से द्रव्यस्त्री के लिए प्रयोग किया गया है। आगम के अनुसार द्रव्य से पुरुष लिंग वाले और भाव से तीनों लिंग वाले जीवों को १४ गुणस्थानों का सद्भाव माना गया है। परन्तु योनिमति अर्थात् द्रव्यस्त्री लिंग वालों को मात्र १ से ५ गुणस्थान तक कहे गये हैं।

प्रश्नकर्ता : सौ. स्मितादोषी, बारामती ।

जिज्ञासा : सिद्धों में जीवत्व क्यों नहीं माना जाता है?

समाधान : जो इन्द्रिय, बल, आयु एवं श्वासोच्छ्वास, इन दश प्राणों से जीता है, उसके जीवत्व कहा जाता है। आचार्यों ने सिद्धों में एक अपेक्षा से जीवत्व माना भी है और एक अपेक्षा से जीवत्व नहीं भी माना है।

राजवार्तिक १/४ की टीका में इस प्रकार कहा गया है। प्रश्न : 'जो दश प्राणों से जीता है.....' आदि लक्षण करने पर सिद्धों के जीवत्व घटित नहीं होता? उत्तर : सिद्धों के यद्यपि १० प्राण नहीं हैं, फिर भी वे इन प्राणों से पहले जिये थे, इसलिए उनमें भी जीवत्व सिद्ध हो जाता है। पुनः प्रश्न : सिद्ध वर्तमान में नहीं जीते। भूतपर्व गति से उनमें जीवत्व कहना औपचारिक है? उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि भावप्राण रूप ज्ञानदर्शन का (चैतन्य रूप भावों का) अनुभव करने से वर्तमान में भी उनमें जीवत्व है।

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार राजवार्तिककार सिद्धों में भी जीवत्व मानते हैं, परन्तु श्री धवला पु. १४, पृष्ठ १३ पर इस प्रकार कहा गया है, 'आयु आदि प्राणों का धारण करना जीवन है। वह अयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि सिद्धों के, प्राणों के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है। इसलिए सिद्ध जीव नहीं हैं। अधिक से अधिक

वे जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं। पुनः प्रश्न : सिद्धों के भी जीवत्व क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है? उत्तर : नहीं। क्योंकि सिद्धों में जीवत्व उपचार से है और उपचार को सत्य मानना ठीक नहीं है।'

भावार्थ : श्री धवलाकार के उक्त प्रमाण के अनुसार १० प्राणों के अभाव की अपेक्षा से सिद्धों में जीवत्व का अभाव कहा गया है। दोनों अपेक्षाएं समझकर तथ्य का निर्णय करना चाहिए।

जिज्ञासा : आम्नाय क्या होता है? और वे कौन-कौन से हैं?

समाधान : आम्नाय शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर किया जाता है। जैसे दिग्म्बर आम्नाय, श्वेताम्बर आम्नाय आदि। जैसे तेरहपंथ आम्नाय, बीसपंथ आम्नाय आदि। जैसे मूलसंघ आम्नाय, काष्ठासंघ आम्नाय आदि। परन्तु शायद आपने इन शब्दों की बजाय स्वाध्याय के एक भेद आम्नाय के बारे में पूछा है, अतः उसी अपेक्षा से उत्तर दे रहा हूँ :

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९/२५ में स्वाध्याय के पाँच भेद कहे गये हैं : वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय तथा धर्मोपदेश। इनमें से आम्नाय शब्द की परिभाषा इसप्रकार कही गई है:

१. सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है, 'उच्चारण की शुद्धि पूर्वक पाठ को पुनः पुनः दोहराना आम्नाय है।'

२. चारित्रसार में चामुण्डराय देव ने इसप्रकार कहा है, 'व्रतियों के द्वारा सब श्रेष्ठ आचरणों को जानने वाले और इसलोक संबंधी फल की अपेक्षा से रहित होकर शीघ्रता या धीरता के कारण, पद या अक्षरों का छूट जाना एवं अशुद्ध उच्चारण आदि दोषों से रहित शुद्ध पाठ का बार-बार वाचन करना, सोचना, आवृत्ति करना आम्नाय कहलाता है।

३. अनगारधर्मांमृत में इस प्रकार कहा गया है, 'पढ़े हुए ग्रंथ के शुद्धता पूर्वक पुनः पुनः उच्चारण को आम्नाय कहते हैं।'

वर्तमान में बहुत से साधर्मि भाई एक स्थान पर मिल बैठकर इष्टोपदेश अथवा भक्तामर स्तोत्र आदि पाठों का जो शुद्ध उच्चारण पूर्वक पाठ करते हैं, उसे आम्नाय स्वाध्याय कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता : पं. विनीत शास्त्री, भोपाल ।

जिज्ञासा : क्या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि नरक में जाये तो सम्यक्त्व छूटता ही है?

समाधान : सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३९० पर आचार्य प्रभाचन्द्र के टिप्पणों में इस प्रकार कहा गया है, शंका : वेदक सम्यक्त्व सहित जीव तिर्यचों में अथवा नरकों में उत्पन्न नहीं होता। तब कैसे उनके अपर्याप्त अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व संभव है? समाधान : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि सात प्रकृतियों के क्षण के प्रारम्भक वेदक सम्यक्त्व युक्त जीव कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि होकर जब क्षायिक सम्यक्त्व के अभिमुख होता है, तब यदि वह मरण करता है, तो कृतकृत्य वेदक काल के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण चार भागों में से यदि प्रथम भाग में मरण करता है तो

देवों में, द्वितीय भाग में मरण करने पर देव या मनुष्यों में, तृतीय भाग में मरण करने पर देव-मनुष्य या तिर्यचों में और चतुर्थ भाग में मरण करने पर चारों में से किसी भी गति में उत्पन्न होता है। अतः वेदक सम्यग्दृष्टि के तिर्यचगति और नरकगति में उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं है। और इस तरह तिर्यच अपर्याप्तकों के भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जानना चाहिए।

उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि यदि सामान्य क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यच मरण करके नरक जाता है तो उसका सम्यक्त्व नियम से छूटता ही है। परन्तु यदि वह जीव कृतकृत्य वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि है, तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित ही नरक में जाता है।

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा - 282 002

भगवान् सुमतिनाथ जी

जम्बूद्वीप संबंधी भरतक्षेत्र अयोध्या नगरी में मेघरथ नाम के राजा राज्य करते थे। मंगला नाम की उनकी पटरानी थी। चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन उस महारानी ने वैजयन्त विमानवासी अहमिन्द्र को तीर्थकर सुत के रूप में जन्म दिया। अभिनन्दन स्वामी के बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जाने पर भगवान् सुमतिनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी। उनकी आयु चालीस लाख पूर्व और शरीर की उँचाई तीन सौ धनुष थी। तपाये हुये सुवर्ण के समान उनकी कान्ति थी। जब उनके कुमार काल के दस लाख पूर्व बीत चुके तब उन्हें राज्य पद प्राप्त हुआ। इस प्रकार सुख पूर्वक समय व्यतीत करते हुए उनके उनतीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग वर्ष सुख से बीत चुके थे। एक समय अपनी जन्मतिथि पर प्रभु सुसज्जित अयोध्यापुरी की शोभा देख रहे थे। उसी समय अपने अहमिन्द्र होने का जातिस्मरण होने से उन्हें वैराग्य हो गया। जिससे उन्होंने वैशाख सुदी नवमी के दिन प्रातःकाल के समय सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ बेला का नियम लेकर दीक्षा धारण कर ली। पारणा के दिन वे भगवान् आहार के लिए सौमनस नामक नगर में गये। वहाँ राजा पद्म ने उन्हें आहार दान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। इस तरह छद्मस्थ अवस्था के बीस वर्ष बीत जाने पर वे भगवान् सहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए जिससे चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन अपराहन काल में घातिया कर्म के नाश से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उनके समवशरण की रचना हुई जिसमें तीन लाख बीस हजार मुनि, तीन लाख तीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यच थे। आर्यक्षेत्रों में विहार कर धर्मोपदेश देते हुए जब उनकी आयु एक मास की शेष रह गई तब उन्होंने सम्मेदशिखर पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में शाम के समय निर्वाण पद प्राप्त किया।

'शलाका पुरुष' (मुनि श्री समतासागर जी) से साभार

धर्म के तत्त्व और सत्य से साक्षात्कार करानेवाला प्रकाशस्तम्भ

सुरेश जैन 'सरल'

ग्रन्थ का नाम	: सत्यार्थ दर्शन (प्रथम भाग)
ग्रंथकार	: मुनिश्री प्रबुद्ध सागर जी
सर्वाइज	: ए-४, पृष्ठ संख्या- २६४, सजिल्द
मूल्य	: १५१/- मात्र
प्रकाशक	: दिगम्बर जैन समाज, जबलपुर
प्राप्ति स्थान	: विद्याश्री ग्राफिक्स, १७९, जवाहरगंज, कछियाना चौक, जबलपुर (म.प्र.)

'सत्यार्थ दर्शन' शीर्षक पढ़कर आभास होता है कि ग्रंथ में सत्य का साक्षात्कार कराया गया होगा, किन्तु जब ग्रंथ का अवगाहन करते हैं तो स्पष्ट होता है कि सत्य के साथ (सचाई के साथ) आत्मतत्त्व का बोध कराया गया है। धर्म में तत्त्वचर्चा होती है यह वाक्य वर्षों से सुनने में आ रहा है, किन्तु तत्त्व चर्चा है क्या वस्तु, यह प्रस्तुत ग्रंथ पढ़कर ही जाना जा सका है।

नाम के अनुकूल, यथानाम तथा गुण, का सम्पूर्ण बोध कराने वाली यह कृति और उसके कर्ता (कृतिकार) मुनिश्री प्रबुद्धसागर जी का वास्तविक विरद इस ग्रंथ से ही समझा जा सकता है। वे प्रबुद्ध हैं तप में, प्रबुद्ध हैं संयम में और प्रबुद्ध हैं लेखन में। ग्रंथ पढ़ लेने के बाद विश्वास हो गया कि उनके नाम से पहले, उन्हें अभीक्षण ज्ञानोपयोगी लिखा जाना शतप्रतिशत सही है। वे प्रज्ञाश्रमण तो हैं ही।

ईसा शताब्दी पाँच के समीप अपना प्रकाश बिखरने वाले अध्यात्म पुरुष आचार्य उमास्वामी महाराज ने जैन दर्शन और जैनसिद्धान्त का पोषक ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र का लेखन किया था, तब से अब तक अनेक संतों और विद्वानों ने उस पर अनेक टीकाएं लिखीं हैं, किन्तु मुनिपुंगव प्रबुद्ध सागर जी द्वारा यह 'सत्यार्थ दर्शन' नाम से लिखित टीका धर्म के समग्र का, सरल प्रस्तुतीकरण है। यह एक तरफ पाठकों को तत्त्वार्थसूत्र की ऊँचाई तक पहुंचाने निःसृयणी का कार्य करती है तो दूसरी ओर मुनिरत्न के आगम-ज्ञान का अनावरण

भी करती हैं वे तीन काल, छह द्रव्य, नौ पदार्थ, षटकाय, छह लेश्याएं, पंचास्तिकाय, व्रत, समितियां और चार गतियों सहित सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेदों को पाठकों तक सुगम-शैली में प्रस्तुत करने की उच्च पात्रता रखते हैं।

टीका लेखन की परम्परा को नूतन आयाम प्रदान करते हुए उन्होंने विषय वस्तु को बोधगम्य बना देने की भावना से सूत्र का मूल स्वरूप, शाब्दिक अर्थ, विवरण, शंका और समाधान प्रस्तुत करते हुए, उत्थानिकाओं के माध्यम से एक दूसरे सूत्र को भारी सोचविचार के साथ जोड़ा है। सर्व साधारण को यह ग्रन्थ मोक्ष संबंधी प्रश्नों के समाधान जानने का उत्तम हेतु है।

जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य इसमें देखने मिला वह यह कि तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों का पहले ध्वला ग्रन्थ प्रथम से, फिर सप्तम से, अष्टम से और त्रयादेश से विश्लेषण किया गया है। इतना ही नहीं, मुनिवर के तलस्पर्शी अध्ययन की जानकारी, क्रमशः पाठक के चित्त में चढ़ती जाती है जब वह देखता है कि प्राचीन ग्रंथ प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड, मूलाचार भाग-एक, भाग-दो एवं भगवती आराधना से भी इसका गहरा तालमेल स्पष्ट किया गया है, इस आधार पर यह पूरा कार्य 'शोध प्रधान ग्रन्थ' की गरिमा भी पाता है और पूर्व लिखित टीकाओं के समक्ष ज्ञान की नई-नई किरणें प्रदान करने में सक्षम है। २२२ पृष्ठ के ग्रन्थ पर ३३ पृष्ठ की प्रस्तावना मंदिर पर शिखर की तरह, शोभायमान है। मात्र प्रस्तावना से ही आगम की अनेक गुत्थियां सुलझती हुई मिल जाती हैं।

मुनिवर प्रबुद्धसागर जी की यह कृति उनकी प्रज्ञा की धरोहर तो है ही, उनकी साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग भी है। नित्य - स्वाध्याय के योग्य यह ग्रन्थ घरों, पुस्तकालयों और मंदिरों में सदियों तक अपना स्थान बनाये रहेगा।

२९३, सरल कुटी, गढ़ा फाटक वाई,
जबलपुर-४६२००२ (म.प्र.)

समाचार

श्रावक संस्कार शिविर भीण्डर (राज.)

परमपूज्य संत शिरोमणि आचार्य १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज के परमशिष्य आध्यात्मिक संत, तीर्थोद्धारक, वास्तुविज्ञ, मुनिपुंगव १०८ श्री सुधासागरजी महाराज ससंघ का पावन वर्षायोग ध्यानडूंगरी के विशाल परिसर में, सकल दि. जैन समाज, भीण्डर के विशेष अनुरोध पर एवं दानशील, परमगुरुभक्त श्रेष्ठ श्री बंसीलालजी भंवरलालजी पचोरी परिवार मोनिका मेमोरियल ट्रस्ट के पुण्याजकत्व में पूर्वाधिराज दशलक्षण महापर्व के शुभ पावन प्रसंग पर दिनांक ८ सितम्बर २००५ से दिनांक १७ सितम्बर २००५ तक विशाल स्तर पर 'श्रावक संस्कार शिविर' आयोजित किया गया।

गुरुकुल प्राचीन परम्परा पर पूर्णतः आधारित पद्धति अनुसार इस संस्कार शिविर में परमपूज्य मुनिपुंगव श्री सुधासागर जी महाराज ने सप्तशताधिक शिविरार्थियों को सुसंस्कारित किया, जीवन जीने की कला सिखाई। ६५३ शिविरार्थी पाँच ग्रुप में विभाजित थे। प्रातः चार बजे से रात्रि १० बजे तक सभी शिविरार्थी पूर्ण समयानुसार - नियमानुसार पाबंद हो गये थे। घर-परिवार एवं व्यवसाय आदि की चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त होकर धर्मध्यान-धार्मिक शिक्षण में समय व्यतीत कर रहे थे।

दिनांक १६ सितम्बर २००५ को लिखित परीक्षा हुई। कक्षा में प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान प्राप्त करने वाले शिविरार्थियों को पुरस्कृत किया गया। शिविर में ४३ शिविरार्थियों ने १० दिन दस उपवास किये, उन्हें भी समिति ने एक विशेष पुरस्कार देकर सम्मानित किया।

इस प्रकार के इस अनूठे, आदर्श, अनुकरणीय, अनुष्ठान में जिन-जिन व्यक्तियों ने भाग लिया, सम्मिलित हुए, परम आध्यात्मिक धार्मिक शिक्षण अर्जित किया निश्चित ही अभीभूत हो गये, धन्य हो गये।

श्रावक संस्कार शिविर की श्रृंखला में परम दयालु गुरु मुनिपुंगव १०८ श्री सुधासागर जी महाराज ने सहस्त्रों जिज्ञासु श्रावकों को संस्कारित कर धर्ममय जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त किया है, आदर्श है, अनुकरणीय है, स्तुत्य है। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु का जितना भी गुणगान किया जाये, कम है।

भागचन्द पाटनी

निर्देशक- श्रावक संस्कार शिविर, भीण्डर

हजारीबाग में शताब्दी समारोह धूमधाम से सम्पन्न

हजारीबाग, संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के परमप्रभावक शिष्य मुनिश्री प्रमाणसागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में ६ से १४ अक्टूबर २००५ तक श्री १००८ पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर का शताब्दी समारोह 'कल्पद्रुम महामण्डल विधान' के साथ धूमधाम से सम्पन्न हुआ। समस्त विधि-विधान बाल ब्रह्मचारी श्री प्रदीप जी, अशोकनगर के निर्देशन में सम्पन्न हुए। संघस्थ त्यागीवृन्द क्षु. श्री सम्यक्सागर जी, ब्र. शान्तिकुमार जी, ब्र. अन्नूजी एवं ब्र. रोहित जी का भी सान्निध्य प्राप्त हुआ।

पूरी समाज का पिछले चार वर्षों से प्रयास एवं संकल्प था कि जब मुनिश्री हजारीबाग पधरेंगे तभी शताब्दी समारोह मनाया जायेगा। नौ दिन तक सम्पन्न होने वाले इस महाआयोजन का शुभारम्भ मध्यप्रदेश सरकार के वित्तमंत्री माननीय श्री राघवजी द्वारा हुआ। कार्यक्रम का ध्वजारोहण परमपूज्य मुनिश्री के गृहस्थ जीवन के माता-पिता श्री सुरेन्द्रकुमारजी एवं सोहनीदेवी के कर कमलों से हुआ। कटनी के श्री विजयकुमार जी के द्वारा निर्मित समवशरण सबके आकर्षण का केन्द्र रहा।

इस पावन पुनीत अवसर पर परमपूज्य मुनिश्री की नई कृति 'पाठ पढ़े नवजीवन का' विमोचित हुयी। कृति का विमोचन श्री अशोकजी पाटनी, आर.के.मार्बल, किशनगढ़ द्वारा किया गया। इसी अवसर पर दयोदय म्यूजिकल ग्रुप टीकमगढ़ द्वारा पूज्य मुनिश्री पर आधारित 'अलबेला संत' नाम की कैसेट लोकार्पित की गई।

जिस मन्दिर का शताब्दी समारोह मनाया गया उसमें विराजमान मूलनायक श्री १००८ पार्श्वनाथ भगवान् का महामस्तकाभिषेक बड़े धर्ममय वातावरण में हुआ। इस शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में हजारीबाग जैन समाज द्वारा एक प्रदर्शनी का आयोजन किया। जिसमें श्री निर्मलजी गंगवाल एवं साथियों के अथक परिश्रम से हजारीबाग में बीते १०० वर्षों की गतिविधियों के साथ मुनिश्री के जन्म से लेकर अब तक के चित्रों की झांकी सभी के आकर्षण का केन्द्र बनी रही।

आयोजन समिति ने सांगली जिला में बाढ़ से प्रभावित लोगों की सहायता के लिए एक लाख ग्यारह हजार का चेक श्री जीवनदादा पाटील को दिया साथ ही जीव दया हेतु देश भर की गौशालाओं के लिए दो लाख ग्यारह हजार का दान

दिया गया।

अखिल भारतीय जैन युवा सम्मेलन सम्पन्न

हजारीबाग में सम्पन्न शताब्दी समारोह के महाआयोजन के बीच में १२-१३ अक्टूबर को 'अखिल भारतीय जैन युवा सम्मेलन' एवं अलंकरण समारोह का आयोजन किया गया। इस युवासम्मेलन में तीन हजार से भी अधिक युवाओं ने अपनी भागीदारी दिखा यह साबित कर दिया कि धर्म एवं संस्कृति को बचाने में हमारा क्या उपयोग है। इस अवसर पर प्रसिद्ध उद्योगपति श्री अशोकजी पाटनी, आर.के.मार्बल किशनगढ़, पं.श्री मूलचन्द्र जी लुहाड़िया किशनगढ़, श्री मदनलाल जी बैनाड़ा आगरा, दि.जैन महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मलकुमार जी सेठी, श्री पुष्पराजजी शाह कन्नौज, श्रीजीवनदादा पाटिल महाराष्ट्र, श्री हृदयमोहन जैन विदिशा, श्री सुभाष जैन आई.ए.एस. भोपाल सहित अनेक गणमान्य लोग उपस्थित थे।

इस अवसर पर मुनिश्री कहा कि, 'धर्म और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं, धर्म समाज को अनुशासित करता है तो समाज धर्म को संरक्षण प्रदान करता है। समाज की सर्वोन्मुखी उन्नति तीन स्तर पर विचार करने से ही संभव है। पहला, सामाजिक संगठन। दूसरा, पारस्परिक सहयोग एवं तीसरा सबको समादर। युवावर्ग एकजुट होकर रहे। जो आपस में लड़ते हैं वे आफत में पड़ते हैं। सितार में जिसतरह सात तारे होते हुए भी आन्तरिक सामन्जस्य होने से मधुर संगीत उत्पन्न होता है, ठीक उसी तरह समाज के विभिन्न घटक अलग-अलग रहकर भी सामन्जस्य की भावना रखें तो उन्नति की ओर कदम होंगे। युवाओं को संस्कारित और संगठित कर धर्म, समाज और तीर्थों की रक्षा में लगाना ही इस युवा सम्मेलन का मूल उद्देश्य है।'

मुनिश्री ने 'गिरनार समस्या' एवं 'श्री सम्पेदशिखर पर फैलती अराजकता' पर विस्तृत विचार व्यक्त करते हुए कहा कि, 'समाज यदि अभी नहीं चेती तो भविष्य बड़ा भयावह होगा। एक झोपड़ी द्वारा एक पेड़ की हत्याकर पर्यावरण को गहरा आघात हो रहा है। तीर्थराज की वन्दना करते समय ऊपर पहाड़ पर कुछ भी नहीं खरीदेंगे।' मुनिश्री ने सभी युवकों को मद्य-पान त्याग का संकल्प कराया।

कार्यक्रम के दूसरे दिन मुख्यअतिथि श्री अशोकजी पाटनी, आर.के.मार्बल ने कहा कि, 'मुनिश्री द्वारा युवाओं को एकजुट करने की यह पहल समाज के लिए मील का पत्थर साबित होगी।' मुनिश्री ने कहा कि, 'सृजनशीलता एवं

क्रियाशीलता युवा होने की मूल पहचान है। युवा शब्द को पलटने पर वायु बनता है। वायु का अर्थ है जो सतत गतिशील रहे। समाज में परिवर्तन लाना चाहते हो तो पहले स्वयं में परिवर्तन लाओ।'

इस युवासम्मेलन में श्री सुभाष जैन आई.ए.एस. भोपाल ने 'हजारीबाग-घोषणा' के तहत एक प्रस्ताव पढ़ा, जिसमें राष्ट्रीय स्तर का संगठन 'राष्ट्रीय दिगम्बर जैन युवा महासंघ' का गठन किया। उपस्थित जन समुदाय एवं युवाओं ने हाथ उठाकर हाँ से अपनी सहमति प्रकट कर इस प्रस्ताव को पारित किया। इसके पश्चात् युवा प्रतिनिधियों ने चार प्रस्ताव और पढ़े। पहला, 'गिरनार की रक्षा के लिए।' दूसरा, 'व्यसन मुक्ति अभियान हेतु।' तीसरा, 'आपसी समन्वय एवं सौहार्द' तथा चौथा, 'धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय का दर्जा' से संबंधित थे।

निर्मल जैन टोंग्या

संयोजक- अखिल भारतीय जैन युवा सम्मेलन

कोलकाता में पंचकल्याणक महोत्सव

कोलकाता के काकुड़गाछी अंचल में स्थित श्री दि. जैन मंदिर जी 'श्री जिनबिम्ब पंचकल्याणक महोत्सव' दिनांक २३ नवम्बर से २८ नवम्बर २००५ तक, इसी अंचल में स्थित साल्टलेक स्टेडियम के प्रांगण में मनाया जायेगा।

अतिथियों के लिए आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था रहेगी। सभी साधर्म्य भाइयों से पंचकल्याणक महोत्सव में उपस्थित होने का आग्रह है।

अनिल सेठी

प्रचार विभाग-श्री शांतिनाथ दि.जैन पंचकल्याणक समिति

'जैनतिथिदर्पण' निःशुल्क उपलब्ध

जैन एवं जैनेतर मान्यता में उदय तिथि एवं तिथिकाल को लेकर कुछ भिन्नता है। जैनेतर बंधु सूर्योदय काल में वर्तमान तिथि को पूर्ण दिवस की तिथि मानकर व्रत व पर्व हेतु मान्य करते हैं, जबकि जैन मान्यता में कम से कम ६ घड़ी उदय तिथि को पर्व एवं व्रत हेतु स्वीकारते हैं।

पं. नाथूलालजी शास्त्री द्वारा निर्मित जैनतिथिदर्पण, जो इन्दौर स्थित कार्यालय पर एवं पं. नाथूलालजी शास्त्री के निवास मोतीमहल सर हुकुमचन्द मार्ग से तथा लश्करी मंदिर गोरकुण्ड पर श्री विमलचन्द्रजी कानूगो से भी प्राप्त किये जा सकते हैं, जो निःशुल्क उपलब्ध हैं। तीन तिथि दर्पण मंगाने हेतु बुक पोस्ट पर ४/- का डाक व्यय लगता है, जो डाक

टिकिट भेजकर प्राप्त किये जा सकते हैं।

गुलाबचन्द बाकलीवाल
जैन तिथि दर्पण प्रकाशन समिति
३५/१, नार्थ राजा मोहल्ला, इन्दौर-४५२००२

एन.सी.ई.आर.टी. में सदस्य के रूप में नामांकन



विगत माह श्री दामोदर जी जैन कनिष्ठ व्याख्याता जिला शिक्षा एवं प्राथमिक संस्थान कुण्डेश्वर, टीकमगढ़ (म.प्र.) को मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय द्वारा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.आर.टी.) नई दिल्ली की साधारण सभा का सदस्य

नामांकित किया गया है। इस सभा में देश के सभी प्रदेशों के शिक्षामंत्री विश्वविद्यालय के चार कुलपति यू.जी.सी. और सी.बी.एस.ई. के अध्यक्ष, देश के विख्यात शिक्षाविदों सहित देश के चार शिक्षकों को शामिल किया जाता है।

परिषद् का मुख्य कार्य शैक्षिक संदर्भ में शासन को सलाह देना तथा शोध आधारित परियोजनाओं का संचालन करना है। इस परिषद् के अध्यक्ष केन्द्रीय मानव संसाधन और विकास मंत्री माननीय श्री अर्जुन सिंह जी और निदेशक देश के विख्यात शिक्षाविद् कृष्ण कुमार जी हैं।

परिषद् द्वारा नई शिक्षा नीति १९८६ के अनुसार पाठ्यचर्चा वर्ष २००५ तैयार कर अनुमोदित किए जाने उपरांत इसे लागू किए जाने की ओर कदम बढ़ाया है। शिक्षक प्रतिनिधि के रूप में परिषद् के कार्यों में सहभागिता के माध्यम से श्री दामोदर जी जैन का संकल्प है कि वे शिक्षकों की रचानाधर्मिता को बढ़ावा देने के सार्थक प्रयास करते रहेंगे।

हजारीबाग (झारखण्ड में) श्री भक्तामर स्तोत्र अनुशीलन राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी २००५ सम्पन्न

हजारीबाग, दि. जैन पंचायत एवं चातुर्मास व्यवस्था समिति के सौजन्य से पूज्य मुनिवर श्री प्रमाणसागर जी महाराज के संसंध सान्निध्य में त्रिदिवसीय (२४ से २६ सितम्बर २००५) संगोष्ठी सात सत्रों में सम्पन्न हुई जिसमें छः राज्यों के १६ विद्वानों ने अपने शोधपूर्ण आलेखों का वाचन एवं शंका समाधान से चर्चा में भाग लिया। विवरण निम्नानुसार है :
पं० शिवचरन लाल जैन (मैनपुरी), डॉ० रमेशचन्द्र जैन (बिजनौर), पं० निर्मल जैन (सतना), डॉ० शीतलचन्द्र जैन (जयपुर), प्राचार्य निहालचन्द्र जैन (बीना), डॉ० फूलचन्द्र

प्रेमी (बनारस), डॉ० सुरेन्द्रकुमार भारती (बुरहानपुर), श्री अनूपचंद्र जैन एडवोकेट (फिरोजाबाद), पं० विनोद कुमार प्रतिष्ठाचार्य, पं० सिद्धार्थ कुमार जैन (सतना), पं० पंकजकुमार जैन (रांची), डॉ० मुन्नी पुष्पा जैन (वाराणसी), डॉ० विश्वनाथ सिंह चौधरी (आरा), पं० रतनलाल विनायका प्रतिष्ठाचार्य (हजारीबाग), छीतरमल पाटनी (स्थानीय संयोजक हजारी बाग), युवा संगीतकार सिद्धार्थ जैन (बीना)।

हजारीबाग की धर्मप्राण समाज ने पठित आलेखों को पुस्तकाकार प्रकाशन का निर्णय लिया है। प्रत्येक सत्र के अंत में पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी के भक्तामर स्तोत्र के विविध पहलुओं पर गवेषणापूर्ण मांगलिक प्रवचन हुये।

समस्त आगत विद्वानों को श्री सम्प्रेदशिखर जी की वंदना का सुअवसर हजारीबाग की समाज ने सुलभ कराया।

धर्म का पुर हुआ डीमापुर (नागालैण्ड)

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के शिष्य ब्र. संजीव भैया (कटंगी) के सान्निध्य में पर्युषण पर्व धर्म-ध्यान के साथ संपन्न हुआ। प्रातः अभिषेक, फिल्मी धुनों के बिना, शान्त-स्वर-मय सामूहिक पूजन, मध्याह्न तत्त्वार्थसूत्र का सारगर्भित अर्थ, रात्रि-हृदयस्पर्शी, मधुरशैली में धर्म-प्रवचन का लाभ समाज को मिला। सरल, सटीक और ओजस्वी पूर्ण प्रस्तुतिकरण करने की कला से भैया जी ने संपूर्ण डीमापुर समाज को मंत्रमुग्ध कर दिया। अंतिम 2 दिन 42 युवा भाइयों का गृहत्याग विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा।

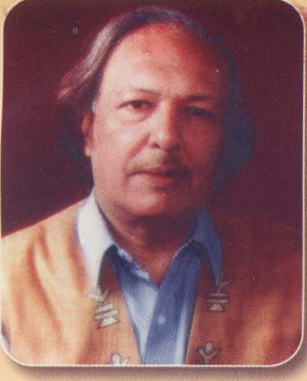
रतनलाल विनायका
मंत्री

आवश्यक सूचना

ज्ञातव्य हो कि कुछ असामाजिक व्यक्तियों द्वारा श्री अतिशय क्षेत्र बीनाजी (बारहा)में कमरों के निर्माण हेतु अनाधिकृत रूप से रसीद छपवाकर चंदा वसूली की जा रही है। ऐसे व्यक्तियों को लोग चंदा न देवें एवं उन्हें पकड़वाकर बीना (बारहा) कमेटी को सहयोग प्रदान करें। कृपया इस पते पर संपर्क कर ऐसे व्यक्तियों की जानकारी समिति को देवें।

क्षेत्र ने प्रचारक नहीं रखा है न किसी प्रकार का दान प्रचारकों को दिया जावे।

अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, बीना (बारहा)
बीना, तह.-देवरी, जिला-सागर (म.प्र.) 470226
फोन : 9425451153



साफ साफ कह दो

• सरोज कुमार

प्रभु,
तुम मुझसे कह दो
कि तुम मुझसे खुश नहीं हो।
तुम्हारी नाराजी से डर कर
शायद मैं सुधर जाऊँ।

मैं तुम पर
बहुत आश्रित होता जा रहा हूँ
अकर्मण्यता की सीमा तक।
तुम मुझसे साफ-साफ कह दो
कि तुम मेरी सहायता
बिल्कुल नहीं करोगे।

तुम मेरे साथ हो
मुझे कैसी भी विपदा से बचा लोगे
मेरा यह विश्वास
खतरनाक है,
यह मुझे कमजोर बनाता है
और विधर्मी भी।

प्रभु,
तुम मुझे दृढ़ता से बता दो
कि जैसा मैं करूँगा
वैसा ही भरूँगा।

तुम मेरे
कवच और कमाण्डो नहीं हो,
अपनी रक्षा का दायित्व
एक मात्र मुझ पर है।

कह दो प्रभु,
साफ-साफ कह दो।
कुछ ऐसी
निर्मम शैली में कह दो
कि मैं विश्वास कर सकूँ
कि सारे संसार का स्वामी
विपत्ति में भी
मेरे किसी काम का नहीं है।

‘मनोरम’, ३७, पत्रकार कालोनी,
इन्दौर - ४५२ ०१८



श्री शान्तिनाथ दि. जैन मन्दिर, भोजपुर (भोपाल) म.प्र.



भगवान ऋषभदेव उद्यान शाहपुरा (इली), भोपाल म.प्र.